प्रकाशक
राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड,
बम्बई

मूल्य दो रुपये

मुद्रक
गोपीनाथ सेठ,
नवीन प्रेस, दिल्ली

हिन्दी के गौरव ग्रंथ

लेखक

- डॉ० विपिन बिहारी त्रिवेदी
- डॉ० सत्येन्द्र
- डॉ० रांगेय राघव
- श्री विश्वम्भर 'मानव'
- श्री गजानन माधव मुक्तिबोध
- श्री गोपालकृष्ण कौल

भूमिका

डॉ० व्रजेश्वर वर्मा



राजकमल प्रकाशन
दिल्ली बम्बई नई दिल्ली

प्रकाशक
राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड,
बम्बई

मूल्य दो रुपये

मुद्रक
गोपीनाथ सेठ,
नवीन प्रेस, दिल्ली

डॉक्टर ब्रजेश्वर वर्मा

भूमिका

मनुष्य की विविध रूपात्मक आत्माभिव्यक्तियों में साहित्य अपेक्षाकृत पूर्ण और स्थायी माध्यम है। साहित्य को केवल ललित साहित्य के सीमित और सर्वमान्य अर्थ में लेने पर भी हम उसके द्वारा मनुष्य के व्यक्तिगत और जातीय जीवन का जितना सूक्ष्म और व्यापक परिचय पाते हैं उतना किसी अन्य साधन—स्थापत्य, मूर्ति, चित्र और संगीत-कलाओं तथा इतिहास, पुराण, धर्म, दर्शन आदि—से नहीं पा सकते। इस माध्यम द्वारा असंख्य भाषाओं में, आदिम युग से आज तक, मनुष्य की जीवन-कथा जिस पूर्णता, विविधता, घनिष्ठता और सुन्दरता से कही गई है उसे देखकर भूत, भविष्यत् और वर्तमान के सुविधामूलक कल्पित काल-खंड विस्मृत हो जाते हैं। वह एक निरन्तर अविच्छिन्न और अनन्त धारा है जिसके प्रवाह में कहीं-कहीं मोड़ के कारण मंदता भले ही हो, अवरोध कहीं नहीं है। काल के व्यवधानों की भाँति देशान्तरों का भी अतिक्रमण करने में मनुष्य की कृतियों में वैज्ञानिक आविष्कारों के बाद साहित्य ही सबसे अधिक समर्थ हुआ है। वाल्मीकि, व्यास, होमर, वर्जिल, दाँते, कालिदास, भवभूति, सादी, फिरदौसी, सूर, तुलसी, शेक्सपियर, मिल्टन, रवीन्द्र आदि अनेक कवि देश और काल की सीमाओं को पार करके विश्व-मानव की सम्पत्ति बन गए हैं। परन्तु इन या इनके समान कम या अधिक कीर्ति पाने वाले महान् कवियों, नाटककारों या कलाकारों की महत्ता केवल मात्र उन्हीं के व्यक्तित्व में निहित नहीं है। उनके पीछे विस्तृत परम्पराएँ हैं—सामाजिक जीवन की बनती-बिगड़ती अगणित संस्थाएँ और साहित्य तथा अन्य सौन्दर्याभिव्यक्तियों की अक्षय निधियाँ जिनके ऊपर उनके कीर्ति-स्तम्भ आधारित हैं। अतः महान् कलाकारों की महत्ता के अंशतः भागी वे समस्त कलाकार भी हैं जिनकी कृतियों को उतनी ख्याति नहीं मिली और वस्तुतः वे भी हैं जिन्हें नियमित अभिव्यक्ति के साधन भी नहीं प्राप्त हो सके। इस प्रकार किसी भी भाषा के गौरव ग्रन्थों में उस भाषा के समस्त साहित्य के प्रतिनिधित्व की क्षमता होती है; उनमें ग्रन्थकार के व्यक्तित्व के व्यक्तिगत और प्रतिनिधि रूप के साथ-साथ जातीय जीवन का चित्र भी मिलता है।

परन्तु चित्र का अंकन निरुद्देश्य नहीं होता। मनुष्य की सौन्दर्य-वृत्ति को संतुष्ट करना उसका प्राथमिक उद्देश्य अवश्य है, परन्तु इस संदर्भ में प्रायः सौन्दर्य के अर्थ की व्याप्ति को भुला दिया जाता है और उसे अत्यन्त संकुचित अर्थ में मनोरंजन का साधन मानकर तुरन्त हीनता और उपेक्षा का पात्र बना लिया जाता है। शब्द-बहुलता के इस आधुनिक युग में, जब शब्दों के वास्तविक अर्थ समझने का अवकाश और सामर्थ्य दोनों कम हो गए हैं, यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम साहित्य को सौंदर्य-सृष्टि का अन्यतम रूप मानते हुए सौन्दर्य

का वास्तविक तात्पर्य समझें। ऐसा न होने से हम प्रायः दुविधा में पड़ जाते हैं और जिन्हें महान् कलाकार समझा जाता रहा है उनके आगे भी प्रश्न-चिह्न लगा देते हैं अथवा अपनी व्यक्तिगत या दलगत कोपप्रियता की रक्षा के लिए गलत और निराधार व्याख्या करने लगते हैं। आखिर, देश और काल के विशाल विस्तार में फैली हुई कला-कृतियों में सर्व सामान्य लक्षण इसके अतिरिक्त और क्या है कि वे मनुष्य की पशु सामान्य आवश्यकताओं के बाद उसकी अनिवार्य आवश्यकता—मानसिक क्षुधा—को शान्त करती हैं। मानसिक क्षुधा की परितृप्ति के जितने साधन हैं उनके मूल में मनुष्य की सौन्दर्य-वृत्ति किसी-न-किसी रूप में अवश्य होती है। परम्परा, परिस्थिति, शिक्षा, संस्कार आदि के स्तर-भेद से सौन्दर्य-प्रियता के भी अनेकधा स्तर हैं और तदनुरूप उसकी परितुष्टि के साधन भी हलके-भारी, छिछले-गहरे, स्थूल-सूक्ष्म अनेक स्तरों के हो जाते हैं; और इन्हीं स्तर-भेदों पर कला-कृतियों की सापेक्ष श्रेष्ठता निर्भर होती है।

सौन्दर्य-सृष्टि कला की मूल प्रेरणा है और सौंदर्यप्रियता मनुष्य की प्राथमिक प्रवृत्तियों में प्रतिफलन की दृष्टि से सबसे अधिक स्थायी और महत्त्वपूर्ण। किन्तु सौन्दर्यप्रियता अन्य मानव-प्रवृत्तियों से विच्छिन्न और स्वाधीन नहीं है। मनुष्य केवल मन, बुद्धि और आत्मा नहीं है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वह केवल शरीर मात्र नहीं है। अशन, आच्छादनादि शारीरिक क्षुधाओं की परितृप्ति के साधनों और मानसिक तृषा की परितुष्टि के साधनों में न केवल विरोध नहीं है, बल्कि दोनों की घनिष्ठ अन्योन्य निर्भरता भी है। अतः जिस प्रकार मनुष्य की कला-कृतियों के रूप, वस्तु और विधान आदि उसकी भौतिक परिस्थितियों द्वारा परिनिश्चित होते हैं, उसी प्रकार कलाओं—विशेषतया साहित्य—द्वारा सम्पूर्ण जीवन को, जिसमें उसका भौतिक पक्ष भी सम्मिलित है, गति प्राप्त होती है, उसकी अनेक कुण्ठाओं का निराकरण होता है, मन की—व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों रूपों में—अनेक उलझी हुई गाँठें खुलती हैं, उसमें उत्साह, वरिष्ठता, कर्मठता और श्रेष्ठता के भाव आते हैं। वह विरेचन और प्रेरणा दोनों का साधन बनकर जीवन की श्रेष्ठतम उपयोगी वस्तु बन जाता है, जिसके बिना जीवन के महत्तम उद्देश्य जीवन के अविच्छेद्य अंग बन ही नहीं सकते। ऐसा ही साहित्य सत और प्रगतिशील कहा जा सकता है, भले ही उसमें धार्मिक और नैतिक उपदेश बिलकुल न हों, भले ही वह किसी दर्शन-विशेष, किसी संघर्ष-विशेष का स्पष्ट या प्रच्छन्न प्रचार न करता हो। साहित्य मात्र की कसौटी है सौन्दर्य की प्रेरणा और उसकी महत्ता एवं श्रेष्ठता की कसौटी है उस सौन्दर्य-प्रेरणा की व्यापकता और गहनता। जो साहित्य जीवन की जितनी अधिक व्यापकता में फैलकर और उसकी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म गहराइयों में पैठकर सौन्दर्य-रस को संचित करके रचा जाता है वह उतना ही अधिक श्रेष्ठ और शक्तिशाली होता है। जीवन के आदर्श बदलते हैं, उसकी गति-विधि में उतार-चढ़ाव आते हैं, हम यह भी मान लें कि वह उत्तरोत्तर भौतिक संघर्ष की ओर प्रवृत्त होता है, किसी अजित सुख-साम्राज्य के जीतने की लालसा में सामूहिक अभियान रचता है, किन्तु श्रेष्ठ साहित्य की ये कसौटियाँ, कि वह व्यक्तिगत कृति होने के साथ जातीय जीवन को किसी-न-किसी रूप में झलका दे, कि वह सौन्दर्यानुभूति से प्रेरणा पाकर रचा गया हो, कि वह जीवन की अधिकाधिक व्यापकता में फैल और गहराई में पैठकर

जीवन का रस खींच लाया हो, कभी नहीं बदल सकतीं।

प्रस्तुत पुस्तक में हिन्दी के जिन गौरव ग्रन्थों की चर्चा की गई है उन्हें हम इन्हीं मूल कसौटियों पर कसकर परखें। महाकवि चन्दबरदाई के 'पृथ्वीराज रासो' से लेकर, यदि हम उसे १२वीं शताब्दी की रचना मानें तो, 'गोदान' तक सात सौ वर्ष से अधिक होते हैं। इतने लम्बे काल में कितने प्रकार के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तन हुए, जीवन के क्रम में कैसे-कैसे मोड़ आये, उसकी गति-विधि कितने विविध रूपों में प्रकट हुई, फिर भी 'पृथ्वीराज रासो' से 'गोदान' तक एक परम्परा का सतत प्रवाह दिखाई देता है। हिन्दी के इन कीर्ति-स्तम्भों के प्रकाश में हम अपने सात सौ वर्षों के जीवन की एक झलक पा सकते हैं तथा अपने बदलते हुए जीवनादर्शों का पर्यवेक्षण करते हुए उस सौन्दर्य-लोक में विचरण कर सकते हैं जो हमारी यात्रा को आनन्दप्रद तथा स्फूर्तिदायक बना सकता है। निश्चय ही वे हमें एक के बाद दूसरी मंजिल तक जाने के लिए प्रकाश और प्रेरणा देते हैं।

हमारी यात्रा 'पृथ्वीराज रासो' से प्रारम्भ होती है। हमारे साहित्य का यह प्रथम कीर्ति-स्तम्भ आकार में अत्यन्त विशाल है। किन्तु सोलह सहस्र से भी अधिक छन्दों और ६९ समयों (अध्यायों) में रचे हुए इस महाग्रन्थ के विषय में देशी और विदेशी तथा साहित्य और इतिहास के विद्वानों में जितना अधिक मत-भेद हुआ है उतना किसी अन्य हिन्दी-ग्रन्थ के विषय में नहीं हुआ। इतिहास के अनेक विद्वानों ने इसे प्रबल तर्कों के आधार पर 'जाली' और 'भट्ट भड़ंत' तक कहा और यह अनुमान लगाया कि इसकी रचना १५वीं-१६वीं शताब्दी तक हुई होगी। साहित्य के विद्यार्थी के लिए अपनी सामग्री के ऐतिहासिक परीक्षण की उपेक्षा का हम समर्थन नहीं कर सकते। आवश्यक तो यह है कि हम सब प्रकार के तर्कों को सम्मुख रखकर उनके आधार पर जो भी निष्पक्ष निष्कर्ष निकल सकें उन्हें भावुकता को भुलाकर मुक्त हृदय से स्वीकार कर लें और इस विवाद को कम-से-कम जब तक नवीन तथ्य सामने न आ जायँ, तब तक के लिए समाप्त कर दें। किन्तु इस समस्या का समाधान ग्रन्थ के प्रामाणिक पाठ की समस्या पर निर्भर है। इस समय 'पृथ्वीराज रासो' के वृहत्, मध्यम, लघु और लघुतम, चार रूपों की कल्पना की गई है। यह भी अनुमान किया गया है कि उसके मूल रूप में बहुत थोड़े से छन्द रहे होंगे। इसका तात्पर्य यह है कि 'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी का एक ऐसा महाकाव्य है जिसने दो-तीन सौ वर्ष तक बढ़ते-बढ़ते अपना वर्तमान रूप पाया है। यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम उसकी समस्त उपलब्ध प्रतियों और पाठों को एकत्र करके उसका वैज्ञानिक सम्पादन करें। साहित्य के विद्यार्थी को तभी अपने इस प्रथम कीर्ति-स्तम्भ से वास्तविक प्रकाश मिल सकेगा। 'रासो' के रूप की अनिश्चितता तथा आकार की विशालता के साथ उसकी भाषा भी उसके रसास्वादन में एक भारी बाधा उपस्थित करती है। वैज्ञानिक सम्पादन के साथ यह समस्या भी यथेष्ट रूप में सुलझ जायगी, क्योंकि 'रासो' की भाषा में बहुत अधिक अनेकरूपता है। उसमें अपभ्रंश, पिंगल और डिंगल के न्यूनाधिक मिश्रण के साथ अपभ्रंशाभास भी अत्यधिक है।

इन कठिनाइयों के होते हुए भी 'पृथ्वीराज रासो' का साहित्यिक अध्ययन होना चाहिए। भले ही वह पूर्ण रूप में बारहवीं शताब्दी की रचना न हो, उसमें प्रधान

ऐतिहासिक तथ्य सर्वथा कल्पित हों और उसका कवि चन्द बरदाई पृथ्वीराज का समकालीन न हो, फिर भी उस कवि में राजपूतों के सामन्ती जीवन को चित्रित करने की अद्वितीय क्षमता है। पृथ्वीराज के समय और उसके आगे-पीछे के सौ-दो सौ वर्षों की अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओं को समझने की प्रेरणा हमें 'रासो' से मिल सकती है। राजपूत सामन्तों के अदम्य साहस, युद्ध-वीरता, स्वाभिमान, स्वामि-भक्ति, प्रतिज्ञा-पालन और महान् पौरुष के साथ उनके वैभव-विलास, क्रीड़ा-विनोद आदि तथा उनकी स्त्रियों की पवित्र धार्मिकता, पति परायणता, उच्च कर्तव्य-भावना, और हँसते-हँसते ज्वालाओं का आलिंगन करने की उत्कट उत्सुकता के सजीव चित्र हमें मुग्ध कर लेते हैं; थोड़ी देर के लिए हमारी तर्क-बुद्धि हमें रस-मग्न होने के लिए छूट दे देती है और हम भूल जाते हैं कि ये सामन्ती आदर्श कब के मिट गए, आज के जीवन में इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं रहा। फिर भी, जिस रस में अवगाहन करके हम निकलते हैं वह हमें नई दृष्टि देता है उस जीवन के परखने की जब मनुष्य सरल-विश्वासी, सरल-अविश्वासी, चमत्कारों का प्रेमी, मिथ्याभिमानी, अदूरदर्शी और व्यक्तिवादी हो गया था। चंद एक चारण कवि था, जनता का कवि नहीं, किन्तु जिन भावनाओं और आदर्शों को उसने व्यक्त किया, वे जनता के हृदय से सर्वथा विच्छिन्न नहीं थे। इसकी साक्षी जगनिक के आल्हखण्ड से मिलती है जो सम्भवतः उसका समकालीन था और जिसकी रचना मौखिक रूप में ही जनता के परम प्रिय वीर-गीत के रूप में शताब्दियों से गाई जाती रही है और आकार में उत्तरोत्तर वृद्धि पाती रही है।

'रासो' के द्वारा हम अपने भाषा-साहित्य की परम्परा को उसके पूर्ववर्ती अपभ्रंश से मिला सकते हैं। क्या भाषा, क्या छन्द, क्या काव्य, रूप और क्या काव्य-वस्तु, सभी उस विस्तृत किन्तु अमूल्य दाय की ओर संकेत करते हैं जो स्वयंभू, पुष्पदन्त, अब्दुल रहमान आदि कवियों ने हमारे लिए छोड़ा था। प्रस्तुत पुस्तक में डॉ० त्रिवेदी ने योग्यता-पूर्वक 'पृथ्वीराज रासो' के काव्य-सौष्ठव का जो परिचय दिया है उससे हमारा विश्वास है कि इस महाकाव्य का मूल रूप में रसास्वादन करने की जिज्ञासा और उत्सुकता जाग्रत होगी तथा उसके सम्बन्ध में उठी हुई अनेक समस्याओं के सुलझाने की माँग बढ़ेगी।

'पृथ्वीराज रासो' की काव्य-परम्परा प्राचीन थी। दूसरे, वह हिन्दी के एक सीमा-प्रांत—राजस्थान—में ही सीमित रही; हिन्दी-प्रदेश के केन्द्र-स्थान को उसने बहुत कम प्रभावित किया। गंगा-यमुना के प्रदेश की साहित्यिक प्रतिभा जन-जीवन को एक नवीन दिशा दिखाने वाले शक्तिशाली आंदोलन की प्रतीक्षा में थी। भक्ति के रूप में इस आन्दोलन ने उमड़कर कई महाकवियों को ऊपर उठा दिया। हिन्दी की निर्बाध साहित्य-धारा के मूल स्रोत ये ही हैं। यदि इस पुस्तक में गौरव-ग्रन्थों के स्थान पर महान् साहित्य-निर्माताओं की चर्चा होती तो निश्चय ही कबीर को सम्मिलित किया जाता। हमारे उपलब्ध साहित्य के पहले कवि वे ही हैं जिनके द्वारा प्रयुक्त भाषा, वस्तु, काव्य-रूप, छन्द और भाव-धारा की परम्परा अग्रसर होती है। उन्होंने धर्म-सम्प्रदायों के द्वन्द्व और कुंठाओं से सत्य को मुक्त करने की चेष्टा की, अधिकारहीन, पद-दलित, तिरस्कृत जन-समुदाय के शताब्दियों से दबे हुए आक्रोश, स्वाभिमान, विश्वास, उमंग और उत्साह को

वाणी प्रदान की, साहित्य-रस को कूप से निकालकर निर्मल जल की धारा में परिणत किया और साहित्य के शास्त्रीय आदर्शों और सिद्धान्तों को ठुकराकर परवर्ती समीक्षकों को साहित्य की नई परिभाषा करने, नये सिद्धान्त बनाने की चुनौती दी। कबीर की ही भाँति संस्कृत-साहित्य की परम्परा से सर्वथा भिन्न किन्तु लोक-साहित्य और अपभ्रंश-साहित्य के साथ नवागन्तुक फ़ारसी की कुछ परम्पराओं को मिश्रित करके सोलहवीं शताब्दी में जायसी ने अपने अमर काव्य 'पदमावत' की रचना की। यद्यपि युग की प्रवृत्ति के अनुकूल भक्ति की भाव-धारा से भिन्न होने के कारण तथा कदाचित् अधिकतर फ़ारसी लिपि में लिखे जाने के कारण 'पदमावत' अधिक लोकप्रिय नहीं हुआ, परवर्ती साहित्य को भी उसने अधिक प्रभावित नहीं किया, फिर भी साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी के गौरव-ग्रन्थों में गिने जाने का वह अधिकारी है। जायसी एक प्रसिद्ध सूफ़ी सन्त थे। उदार दृष्टि, अविरोधी सत्य को परखने की क्षमता, विरोधों में सामंजस्य के सूत्र ढूँढ़ने की संकल्प-शक्ति, भौतिकता को अतिक्रांत करने वाली ऊर्ध्व-चेता प्रवृत्ति और मानवीय मनोवृत्तियों में प्रेम को सर्वोपरि स्थान देने की विवेक-बुद्धि से सम्पन्न होने के कारण जायसी ने एक पूर्व-प्रचलित लोक-कथा को समर्थ साहित्यिक रूप में ढालकर जहाँ नैसर्गिक काव्य-रस का अभूतपूर्व संचार किया वहाँ दो विरोधी जातियों के बहुत से संशय, सन्देह, भ्रम और भय दूर करने में भी 'कांता-सम्मित' उपाय किया। साम्प्रदायिक आग्रहों से सर्वथा मुक्त, शुद्ध, उच्छल रसानन्द जितना 'पदमावत' दे सकता है उससे अधिक हिन्दी का शायद कोई ग्रन्थ नहीं। उसकी प्रेरणा का स्रोत पद्मिनी का अप्रतिम, अलौकिक सौन्दर्य है जिसकी झलक-मात्र रतन सिंह को राज-पाट छोड़ जोगी बन जाने को विवश कर देती है। किन्तु सामन्ती जीवन की कथा को लेकर रचे जाने और रसानुभूति को मूल आधार बनाने के कारण यदि कोई 'पदमावत' की उपेक्षा करने का विचार करे तो इससे उसी के अज्ञान और संकुचित मनोवृत्ति का परिचय मिलेगा। तत्कालीन सामाजिक जीवन को एक सीमित क्षेत्र में 'पदमावत' ने प्रगति की प्रेरणा दी है।

इतने व्यवधान के बाद हम पुस्तक में विवेचित अपने साहित्य के द्वितीय कीर्ति-स्तम्भ पर आते हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी का अन्त होते-होते उत्तर भारत एक नवीन चेतना से अनुप्राणित होने लगा था, विशृंखल जीवन में एक सोद्देश्य सामाजिकता के प्रयत्न होने लगे थे, निवृत्ति की शुष्कता को निवृत्तिमूलक प्रवृत्ति की सार्थक सरसता में परिणत करने की चेष्टाएँ प्रारम्भ हो गई थीं, आडम्बर और जंजाल को त्यागकर मर्म को पहचानने की अन्तर्दृष्टि की व्यापक माँग होने लगी थी—ज्ञान और वैराग्य के स्थान पर प्रेम की आध्यात्मिक अनुभूति का महत्त्व पुनः एक जीवन्त विश्वास के रूप में जीवन का केन्द्र-बिन्दु बनने लगा था। कबीर ने भी प्रेम के ढाई अक्षरों को पढ़ने की क्षमता को पांडित्य की सीमा कहा था, जायसी ने भी उसी प्रेम का अलख जगाकर जीवन को परम आलोक से प्रकाशित करने की आवश्यकता बताई थी। किन्तु जिस उत्साह और उमंग के साथ परम प्रेम और परम आनन्द के मूर्त प्रतीक श्री कृष्ण को ग्रहण किया गया, उतनी सहज उमंग न तो कबीर के शून्यवत् अस्पष्ट प्रेम-प्रतीक के प्रति सम्भव थी और न जायसी के अपरिचित अलह के नूर के प्रति। सौन्दर्य, रस और आनन्द को श्रीकृष्ण और राधा के रूप में मूर्तिमान

करने का श्रेय, काव्य-प्रेमियों के लिए नहीं, सामान्य जन-समाज के लिए, सबसे अधिक महाकवि सूरदास को है। 'सूरसागर' में गीति और प्रबन्ध, प्रेम-भक्ति और काव्य-रस, वैराग्य और जीवनानुराग, सर्वोच्च आदर्श और महज स्वाभाविकता, अलौकिकता और अतिलौकिकता तथा अध्यात्म और भौतिकता के परस्पर विरोधी जैसे तत्व इस रूप में एकाकार हो गए हैं कि कवि की विचक्षणता, सरलता, वाक्-चातुर्य, व्यंजना-शक्ति, अन्तर्दृष्टि, कल्पना-शक्ति, असाधारण संवेदनशीलता और प्रतिभा पर आश्चर्य होने लगता है। 'सूरसागर' की महत्ता उसके बृहदाकार में नहीं है, यद्यपि रचना प्राचुर्य में, जो साधारणतया महाकवि की एक विशेषता होती है, सूर किसी से कम नहीं हैं। उन्होंने सवा लाख पद लिखे या नहीं इसकी चिन्ता में पड़ने की आवश्यकता नहीं। भले ही उनके नाम से सम्प्रति उपलब्ध पाँच हज़ार के लगभग पदों से भी थोड़े बहुत कम पद उन्होंने लिखे हों, तो भी उनकी रचना डेढ़ हज़ार पृष्ठों से कम न होगी। इस विशाल ग्रन्थ में उन्होंने बड़े मौलिक ढंग से, अत्यन्त स्फूर्ति और उद्रेक के साथ श्री कृष्ण का परम आनन्दमय रूप अनेक दृष्टियों से कथाबद्ध किया है। गोकुल में प्रकट होने से प्रारम्भ करके मथुरा-प्रवास और फिर कुरुक्षेत्र-मिलन प्रसंग तक की वात्सल्य, सख्य, और माधुर्य प्रेम की आनन्द-हेतुक—आदर्श-हेतुक नहीं—लीला जिन विविध छन्दात्मक गेय पदों में, पद-समूहों में तथा सुगठित प्रबन्धपूर्ण लघु कथानकों में अत्यन्त तल्लीनता के साथ उद्‌घाटित की गई है उसमें एक-एक पद का प्रसंग निरपेक्ष आस्वाद्यता के साथ अद्भुत एकसूत्रता और एकात्मकता है। सूरदास स्वाभाविक, यथातथ्य, मनोवैज्ञानिक चित्रण में अप्रतिम हैं, किन्तु उनकी महत्ता का वास्तविक कारण उनकी स्वाभाविकता नहीं, वरन् उस प्रकृत स्वाभाविकता के साथ परम अलौकिकता को मनोहर और प्रयासरहित ढंग से समन्वित कर सकने की विलक्षण क्षमता है। सूर के भाव-जगत् का मूलाधार निर्वेद है जो निरन्तर निहित रहता है। उनकी प्रेम-भक्ति के विविध भाव भक्ति के अनिवार्य लक्षण दैन्य से जुड़े हुए हैं, किन्तु वात्सल्य का नन्द-भवन, सख्य का वृन्दा-विपिन और माधुर्य के कुन्ज-वन ऐसी निपुणता से रचे गए हैं कि निर्वेद विस्मरण हो जाता है, दैन्य दब जाता है। किन्तु ऐसा नहीं कि नन्द-यशोदा, श्रीदामा-मधुमंगल, राधा-वृन्दा सर्वथा भूल जायँ कि यह अनुकम्पा, प्रेम और मधुर रति की अनुभूति असाधारण अनुभूति है; वे जानते रहते हैं कि कोई अन्य शिशु, अन्य बालक, अन्य किशोर इस सम्पूर्णता के साथ इंद्रियाकर्षण और भावाकर्षण नहीं कर सकता। रूप और लीला की उस अपार सुन्दरता को पूर्णतया देख सकना, कह सकना, आत्मसात् कर सकना, सभी असम्भव है। विस्मय को जगाने की उसमें अद्भुत शक्ति है और यही विस्मय का परिव्यापक भाव स्वाभाविक मानवीय भाव-राशि को अवर्णनीय आनन्द-रस में परिणत कर देता है। सूरदास ने परब्रह्म को सौन्दर्य के रूप में मूर्तिमान करके हमारे दैनिक जीवन का विषय बना दिया।

विचित्र था वह समय जब इतिहासकारों द्वारा अंकित राजनीतिक उत्पीड़न, सामन्ती व्यवस्था के आर्थिक शोषण, सांस्कृतिक पतन से उत्पन्न सामाजिक भेद-भाव—भौतिक परिस्थितियों के इस विषम समवाय से दबी-पिसी जनता इस काल्पनिक आनन्द में बह गई थी। किन्तु आनन्द की स्थिति कल्पना या भावना के अतिरिक्त और कहाँ होती है? भौतिक सुख में भी उसकी आवश्यकता होती है और भौतिक कष्ट में भी। मध्ययुग का

साधारण जन, किन्हीं कारणों से हो, वैभव को ठुकराने का आदर्श सामने रखता था, चारों ओर से बाँधे हुए बन्धनों को तोड़ डालने की कल्पना कर रहा था, किसी ऐसे सुख की खोज में था जो साधारणतया किसी को नहीं मिलता। कृष्ण की भक्ति में सहज ढंग से उसकी इन आकांक्षाओं की पूर्ति की आशा दिखाई दी थी। एक नवीन और आकर्षक रूप में गीता के अनासक्ति योग का व्यवहार-मार्ग खोला गया था; वासनाओं को दबाने के स्थान पर उनके परिष्कार और उदात्तीकरण के द्वारा जीवन-पथ को सरल बनाने का उपाय किया गया था।

डॉ० सत्येन्द्र ने जिस विद्वत्ता के साथ 'सूर सागर' की समीक्षा की है, उसे इस पृष्ठभूमि के साथ देखने पर सम्भवतः सूर काव्य के सामाजिक महत्त्व और काव्यानन्द को समझने में किंचित् सहायता मिले।

'सूरसागर' के रस-प्लावन के बीच ही साहित्य और संस्कृति का अत्यन्त ऊँचा और भव्य कीर्ति-स्तम्भ मिल जाता है गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरित मानस', जो निश्चय ही काव्य भी है और पुराण भी। 'सूरसागर' को कुछ लोग स्वयं उसी में पैदा किये हुए भ्रम के आधार पर 'भागवत' का अनुवाद या छायानुवाद समझ लेते हैं। 'भागवत' में वर्णित श्री कृष्ण की लीला को अन्य लोक-प्रसिद्ध अथवा स्वकल्पित अनेक कथा-प्रसंगों के साथ अपने ढंग से मिलाकर 'सूरसागर' अवश्य रचा गया, किन्तु 'सूरसागर' ने श्रीमद्भागवत के धार्मिक वातावरण को सर्वथा भिन्न रूप में ग्रहण किया। इसके विपरीत 'रामचरित मानस' में कथा-वर्णन की प्रणाली ही पौराणिक नहीं है, अपितु उसकी मूल भावना अनन्य भक्ति से अनुप्राणित होते हुए भी 'श्रीमद्भागवत' की भावना के कहीं अधिक निकट है। धर्म के विधि-निषेधों का दृष्टांतात्मक उपदेश, वर्णाश्रम धर्म के पुनःसंगठन की आवश्यकता और उपाय, भक्ति का ज्ञान और कर्म के साथ समन्वयात्मक व्यवहार, अत्यन्त कुशलतापूर्वक शैव और वैष्णव मतों का वैष्णव श्रेष्ठता की निश्चित व्यंजना के साथ सामंजस्य, यदा-कदा दार्शनिकतःमूलक विवेचन आदि अनेक बातें 'रामचरित मानस' में पौराणिक पद्धति से रखी गई हैं। ऐसा लगता है कि 'रामचरित मानस' की रचना ही इस उद्देश्य से हुई कि वह 'श्रीमद्भागवत' की भाँति लोकप्रिय कथा-वाचन के रूप में अपनाया जा सके। हुआ ऐसा ही।

गोस्वामी जी ने लोक-विश्रुत अमर-कथा के मर्यादा पुरुषोत्तम नायक राम में परब्रह्मत्व का आरोप करके उन्हें श्रेष्ठ मानव के आदर्श गुणों से सम्पन्न बनाया। निश्चय ही उनके आदर्श एक अत्यन्त उदार, अत्यन्त न्यायशील, अत्यन्त समर्थ, सार्वभौम एक-छत्र सम्राट् के आदर्श थे। तुलसी ने राम का चरित्र 'कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि' के प्राचीन आदर्श पर निर्मित किया। उनमें लालित्य और माधुर्य भी कम नहीं है; कृष्ण की भाँति वे भी सहज आकर्षक हैं। किन्तु तुलसी ने उन्हें रंजन के साथ रक्षण की सामर्थ्य भी प्रदान की है। सम्भवतः वे अपने युग की भौतिक आवश्यकताओं के प्रति अधिक जागरूक थे। यह भी सम्भव है कि वे कृष्ण-भक्ति के द्वारा उन्मुक्त की गई स्वच्छन्द और एकांतिक भाव-भक्ति के लौकिक खतरों को समझते थे। रागानुगा भक्ति को ही उन्होंने मर्यादा में बाँधने का उपाय किया, उन धार्मिक और सामाजिक विधि-निषेधों को उन्होंने पुनः परिपुष्ट किया जो किसी मात्रा में सन्त और कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों के

े थोड़े-बहुत ढीले हो रहे थे। उन्होंने हिन्दू-समाज को पुनः ब्राह्मण के नेतृत्व में होकर ऐसे समर्थ राम के अवतार की याचना करने का आह्वान किया जिसके में कोई दुःख-दैन्य, कोई रोग-दोष, कोई इति-भीति, कोई ताप नहीं होता। कबीर अधिकारहीनों को वैसा निर्भीक और विवेकशील नेता नहीं मिला था, फलतः के द्वारा प्रेरित स्वाधीनता, समता और न्याय के विचार उनके एकेश्वरवाद के ेमिक आधार के साथ उच्छृङ्खलता की ओर उन्मुख थे। तुलसी ने उसे दबाकर मर्यादा पुनः स्थापित करने का यत्न किया।

स्मार्त धर्मानुयायी इस बदले हुए युग में भी तुलसी के इस प्रयत्न की इस प्रकार करते हैं, जैसे उनका दिखाया मार्ग राजनीति, समाज और परिवार-रूपी क्षेत्रों में ी कल्याणकारी और अनुसरणीय हो। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि तुलसी की -शास्त्रीय समीक्षा करते समय उनके समाधानों को न केवल चिरन्तन नहीं कहा जा वरन् उनके तात्कालिक सामाजिक महत्त्व पर भी शंका प्रकट करना निराधार न किन्तु साहित्य की समीक्षा यदि हम सामाजिक समाधानों के आधार पर करने लगें नहीं कह सकते कि हमारी विचारधारा और सामाजिक अभिरुचि न जाने कितने को भूमिसात् करती फिरेगी। हमें तुलसीदास की सामाजिक परिस्थिति में पैठकर दृष्टि की व्यापकता तथा समस्याओं के अन्तराल में प्रवेश कर सकने की क्षमता को ध्यान ते हुए वस्तुतः उनकी महान् सौन्दर्य-सृष्टि की सराहना अपेक्षित है। समाज के नेता में वे किसी काल-विशेष में महान् रहे होंगे, वे अभिनन्दनीय हैं; हमें तो वे इस ्रेय हैं कि वे महान् कवि हैं, सौंदर्य-स्रष्टा हैं। उन्होंने सजग रूप में कविता के सामन्ती आदर्शों के स्थान पर नया आदर्श घोषित किया—'कीरति भनिति भूति सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।' इस नई कसौटी पर कसकर हम उनके को परखें तो पाएँगे कि वे एक महान् शिल्पी थे, भाषा की सम्पूर्ण शक्तियों को नकर उसका प्रयोग करने में अनुपम सावधान; मानव-हृदय में उनका गम्भीर था किन्तु भाव-राशि बटोरने में अत्यन्त संयमी और विवेकशील तथा चरित्रांकन शर्त के साथ वे अत्यन्त कुशल और सफल थे; और वह शर्त थी समस्त चरित्रों ाम पर निर्भरता, जिसके बिना सभी चरित्र पंगु और विकलांग हैं। तुलसी का जगत् ममय है।

ईसाई विशुद्धतावादी पाश्चात्य समीक्षकों और भारतीय सुधारवादी-आदर्शवादी कों ने तुलसी की प्रशंसा के साथ कृष्ण-भक्ति साहित्य पर जिस अ-सामाजिक और तिक दृष्टिकोण का आरोप किया है उससे भी हमें सतर्क हो जाना चाहिए। वस्तुतः -संग्रह और लोक-शिक्षा का भाव दोनों में है; मार्ग भिन्न हैं। एक में कवित्व और भक्ति ाथ प्रत्यक्ष रूप में धर्मोपदेश भी है, दूसरे में कवित्व और भक्ति के सौष्ठवपूर्ण सामंजस्य उपदेश की व्यंजना अधिक है।

डॉ० रांगेयराघव ने 'रामचरित मानस' का जो विश्लेषण किया है उससे असहमत कठिन है। किन्तु उनकी दृष्टि केवल सामाजिक समीक्षा पर रही है।

तुलसी का काव्य खूब लोकप्रिय हुआ, किन्तु काव्य के रूप में उतना नहीं, जितना

धर्म-शिक्षक और इसी कारण मोक्षदायक के रूप में। उसका अनुसरण नहीं हो सका। सूर का काव्य भी कम लोकप्रिय नहीं हुआ—भजनानन्द के रूप में भी और काव्यानन्द के रूप में भी। उसका अनुसरण भी खूब हुआ। किन्तु सूर की भाव-संपत्ति को पाने की सामर्थ्य किसमें थी? उसकी काव्यगत सम्भावनाएँ अवश्य बहुत थीं। भक्तों की वाणी द्वारा निरन्तर दुहराई जाकर वह अनुभूति की सहजता भी धीरे-धीरे खोने लगी। तभी कवि-कर्मी व्यक्तियों ने उसे उधार लेकर यथासाध्य तथा यथासम्भव उसकी धार्मिकता और अलौकिक व्यंजना को भी सम्हालते हुए उसे रसिक गोष्ठियों का विषय बना दिया। शब्द-शिल्प, वाक्-चातुर्य, भाव-विन्यास और काव्य-कला के अन्य ऐसे ही प्रसाधनों के बल पर कवि एक-दूसरे को मात देने की चिन्ता में रत हुए। कहना कठिन हो गया कि किसमें अधिक चमत्कार है, किसमें अधिक कौशल। फिर भी, मतिराम, देव और बिहारी में कला-मर्मज्ञों और रसिक-सुजानों ने बिहारी को ही बीड़ा दिया। सचमुच 'रामचरितमानस' के बाद हमारे साहित्य का कीर्ति-स्तम्भ 'बिहारी सतसई' ही है। इसकी भी कई दर्जन टीकाएँ हुईं, उर्दू, संस्कृत आदि अन्य भाषाओं में अनुवाद हुए, दोहों के भाव लम्बे छन्दों में पल्लवित किये गए, एक-एक दोहे के अनेकानेक अर्थ बताये गए तथा इसके अनुकरण में आधुनिक काल तक चली आती हुई एक सतसई परंपरा बन गई। स्वयं 'बिहारी सतसई' प्रथम शताब्दी की प्राकृत 'गाहा सत्तसई' और बारहवीं शताब्दी की 'आर्या सप्तशती' की प्राचीन परम्परा की हिन्दी प्रतिनिधि है। किन्तु बिहारी के रसिकों ने दिखाया है कि बिहारी ने पूर्ववर्ती भाव को अपने दोहों में ढालकर उसे अधिक चमत्कृत और उत्कृष्ट बना दिया। बिहारी के वे दोहे भी जिन्हें उनके आश्रयदाता के इतिहास से सम्बद्ध किया जाता है प्राकृत गाहाओं के भाव पर रचे गए हैं। किन्तु बिहारी की मौलिक प्रतिभा और शिल्प-कौशल ने अनुकरण को भी मौलिक बना दिया। साहित्य-मात्र को यान्त्रिक रूप में जन-चित्त का 'प्रतिबिम्ब' कह डालने वाले जो समीक्षक बिहारी के दोहों में तत्कालीन तथाकथित 'पतित' सामाजिक जीवन का चित्र देखने लगते हैं, वे साहित्यिक परम्पराओं और रसिक-मण्डलियों में बहुत-कुछ कृत्रिम ढंग से उनके प्रचलन की बात भूल जाते हैं। बिहारी दरबारी कवि थे। उनकी रचना में सामन्ती जीवन की यदा-कदा झलक अवश्य मिल जाती है, पर वे सामयिक जीवन का चित्र देने नहीं चले थे, मनोरंजन ही उनका मुख्य उद्देश्य था। उनका विषय पूर्ववर्ती सतसइयों और 'अमरु शतक' आदि मुक्तकों का ही विषय था—नागरी ललनाओं की अंग-भंगिमाएँ, ग्राम-बालाओं की स्निग्ध सौन्दर्य-शोभा, चंचल चित्त की भयाकुलता, संयोग और वियोग की कवि-सिद्ध अनुभूतियाँ। इन्हीं को बिहारी ने ध्वनि-काव्य की प्रतीयमानता के सिद्धान्त के अनुसार छोटे-छोटे दोहों में सजाकर अभिनव गुप्त के शब्दों में 'महाकवि' की उपाधि पाई। उनके सौभाग्य से हिन्दी में उनके पूर्ववर्ती कवि कृष्ण-भक्त थे जिन्होंने राधा-कृष्ण के प्रेम का मधुर प्रवाह और उसके अंतर्गत नायिका-भेदादि की समस्त सम्भावनाएँ उपस्थित कर दी थीं। अपने विषय को राधा-कृष्ण की प्रेम-भक्ति की भूमिका में ढालकर बिहारी ने अपने लौकिक काव्य में भी भक्तों को अलौकिक संकेत पाने का अवसर दिया है। सम्भवतः स्वयं भी यह विदग्ध कवि राधा-कृष्ण की भक्ति में दीक्षित था, अतः कवि-कर्म उसके लिए सांसारिक लाभ का तो कारण था ही, पारलौकिक लोभ की भी यत्किंचित् संतुष्टि उससे अवश्य हुई

होगी। सतसई के अनेक दोहे भक्ति और नीति-समन्वित हैं। श्री विश्वम्भर 'मानव' ने 'सतसई' के सभी पक्षों का योग्यतापूर्वक उद्‌घाटन किया है।

उन्नीसवीं शताब्दी का अन्त होते-होते हमारा सामाजिक जीवन बदला, एकदम नया वातावरण बनने लगा, साहित्य ने भी नई साँस ली, भारतेन्दु का उदय हुआ और साहित्यिक गद्य को जन्म मिला। नाटक, निबन्ध, उपन्यास रचे जाने लगे; कविता के रूप और विषय में भी परिवर्तन होने लगा। ब्रज भाषा की मधुरिमा अधिक दिनों तक न लुभा सकी; सुधारवाद के जोश में खड़ी बोली में लोच और मसृणता के अभाव की ओर भी ध्यान नहीं दिया गया। किन्तु धीरे-धीरे यह कमी भी पूरी की जाने लगी। अनेक नये शब्द-विधानों और वचन-भंगिमाओं को अन्य देशी और विदेशी भाषाओं से लेकर अपनाया गया। बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक का अन्त होते-होते काव्य की पुरानी परंपराओं से विद्रोह करने वाले किशोर कवियों का स्वर स्पष्ट सुनाई देने लगा। हिन्दी कविता में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। पांडित्य की स्वीकृति न पाकर भी उसका नाम 'छायावाद' स्वीकृत हो गया। इस युग के प्रवर्तकों में सभी दृष्टियों से प्रमुख हैं महाकवि जयशंकर 'प्रसाद।' प्रसाद जी ने कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, निबन्ध—सभी माध्यमों से आत्माभिव्यक्ति की। किंतु प्रकृत रूप में हम उन्हें कवि ही मानते हैं। प्रसाद जी की 'नई' कविताओं में 'झरना', 'आँसू' और 'लहर' की कविताएँ उनकी कल्पना, अनुभूति और अभिव्यक्ति के उस विकास-क्रम को सूचित करती हैं जिसका चरम उत्कर्ष 'कामायनी' में हुआ। हम उसे अपने आधुनिक साहित्य का पहला कीर्ति-स्तम्भ कह सकते हैं।

छायावाद में विद्रोह का भाव अत्यन्त सीमित और संकुचित है, वह जड़ से उखाड़ फेंकने वाला विद्रोह नहीं है। इसलिए सभी छायावादी कवि मूलतः परम्परा से बँधे हुए हैं। केवल उस परम्परा को अपनी अन्य परिस्थितियों की भाँति एक गहरी अंतर्दृष्टि से देखना चाहते हैं, उसकी स्वात्मपरक— अपने ढंग से कह सकते हैं, मनमानी—व्याख्या करना चाहते हैं। अधिकांश में उन्होंने नई-नई अभिव्यक्तियों में अपने ही भावों को व्यक्त किया है, भले ही उनके सम्मुख बाह्य चराचर प्रकृति अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ उपस्थित रही हो। जग-जीवन को भी उन्होंने उसी सरल भाव से अपने ढंग से देखा और कभी-कभी उसके सम्बन्ध में अपने गम्भीर विचार भी प्रकट किये। समीक्षकों ने इन विचारों को उनके 'जीवन-दर्शन' का नाम दिया है। इस प्रकार का जीवन-दर्शन सबसे अधिक स्पष्ट और निश्चित रूप में प्रसाद जी में पाया जाता है। उनका 'कामायनी' महाकाव्य छायावादी शैली में मनोभावों को तर्क और विचार-विश्लेषण के साथ व्यक्त करने वाला काव्य है। इसीलिए कुछ लोगों को उसमें काव्य का स्वारस्य नहीं मिलता। किन्तु प्रेम और आनन्द के इस प्रतिभाशाली कवि ने जिस रूप में अपनी विराट् और भावुक कल्पना को चिन्ता, आशा, काम, वासना कर्म और ईर्ष्या के संघर्ष के बाद शांति-लाभ करके, ज्ञान और योग से परिचय पाकर, अन्त में मानस तट पर ध्यानस्थ हो, अखंड आनन्द को उपलब्ध करते दिखाया है, वह हमें चकित और प्रभावित किये बिना नहीं रहता।

'कामायनी' में मुख्यतया दो मानव-वृत्तियों का संघर्ष दिखाया गया है—अन्तर्वेग और बुद्धि, जिनकी प्रतीक क्रमशः श्रद्धा और इड़ा हैं। मानव की मानसिक प्रक्रिया के तत्त्व सर्वथा

परस्पर-निरपेक्ष नहीं हैं, किन्तु फिर भी दोनों के सन्तुलित सामंजस्य के अभाव में जीवन-पथ कण्टकाकीर्ण हो सकता है। प्रसाद जी ने सामंजस्य में ही सुख की कल्पना की है, किन्तु फिर भी वे श्रद्धा को बुद्धि से श्रेष्ठता प्रदान करते हैं। प्रसाद जी ने समाज-दर्शन पर उस प्रकार विचार नहीं किया, जिस प्रकार हमारे कुछ समालोचक चाहते हैं कि वे करते। निश्चय ही उन्होंने अन्य अनेक छायावादी कवियों की ही भाँति अपने समय के जीवन-संघर्ष में क्रियात्मक भाग नहीं लिया; प्रत्यक्ष रूप में उन्होंने युगपुरुष गांधी का प्रभाव भी स्वीकार नहीं किया, यद्यपि विचार-क्षेत्र में उससे बचना असम्भव था। प्रसाद जी के समय तक साहित्य में समाजवाद और साम्यवाद का प्रवेश प्रायः नहीं हो पाया था। फिर, 'कामायनी' से यह आशा करके निराश होना कि उसमें वर्ग-संघर्ष के परिणामस्वरूप वर्ग-हीन समाज की कल्पना की गई होती, बहुत संगत नहीं जान पड़ता। किन्तु इस स्पष्टीकरण का अभिप्राय प्रसाद की ओर से क्षमा-याचना करना नहीं है। सत्य यह है कि प्रसाद जी का समूचा साहित्य घोषित करता है कि चाहे वे १९३७ के दस वर्ष बाद तक भी जीवित रहते तब भी वे परोक्ष रूप से भी मार्क्सवादी भौतिकवाद के प्रभाव को ग्रहण न करते, उनकी 'श्रद्धा' मानवतावाद के आधार पर ही वर्गहीन समाज की लालसा करती रहती, और उनकी इड़ा वर्ग-मैत्री की ही चेष्टा करती। जिस अर्थ में 'कामायनी' की श्रद्धा और इड़ा घोर-से-घोर-तर प्रतिक्रियावादी हैं, उस अर्थ में प्रसाद और उनका समस्त साहित्य भी उस कल्पित दोष से मुक्त नहीं है। किन्तु साहित्य को एक ही रंग के चश्मे से देखने पर उसके वास्तविक गुणों की परख नहीं हो पाती। हम तो साहित्य-समीक्षा में भी समन्वयात्मक दृष्टि के पक्षपाती हैं।

'कामायनी' में छायावादी काव्य की चरम परिणति हुई है, समाज-नीति और विचार-दर्शन के ठोस क्षेत्रों में प्रवेश करके उसने किशोर-भावना-प्रधान काव्यधारा की सबलता और प्रौढ़ता प्रकट की है। वह प्रसादजी के गहन अध्ययन और मनन का परिणाम है। उसमें उनकी रहस्यात्मक प्रवृत्ति का अन्तिम लक्ष्य प्रकट हुआ है। श्री गजानन माधव मुक्तिबोध का लेख 'कामायनी' को जिस दृष्टि से देखता है, उससे भिन्न दृष्टि भी हो सकती है।

भारतेन्दु ने साहित्य में जिस युग का सूत्रपात किया वह गद्य का युग है। गद्य में कथा-साहित्य ही सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ है। हिन्दी कथाकारों के शिरोमणि प्रेमचन्द ने आधुनिक युग में सबसे अधिक लोकप्रियता पाई है। उनके उपन्यासों में 'गोदान' उनकी अंतिम और सबसे सुन्दर कृति है।

हमारी इस साहित्य-यात्रा में 'गोदान' अन्तिम प्रकाश-स्तम्भ है। प्रेमचन्द के कथा-साहित्य की अनेक विशेषताओं में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने वास्तविक जीवन की यथार्थ परिस्थितियों को अपने साहित्य का उपकरण बनाया। प्रेमचन्द का रचना-काल वही है जो कविता में छायावाद युग कहलाता है। किन्तु युग की घटनाओं, वास्तविकताओं और विचारधाराओं से छायावाद जितना अछूता रहा, प्रेमचन्द उतने ही उनमें घुले-मिले थे। महात्मा गांधी के असहयोग और सविनय अवज्ञा आन्दोलनों तथा हिन्दू-मुस्लिम, अछूतोद्धार, किसान-मज़दूर और ब्राह्मण, पटवारी-ज़मींदार आदि सभी छोटी-बड़ी समस्याओं को उन्होंने गहराई से परखा और यथासम्भव उनके समाधान का संकेत किया। समाज के प्रति उनकी

निरन्तर जागरूकता तथा सर्वांगपूर्ण दृष्टिकोण ने उन्हें किसी भी विचारधारा का अंधभक्त नहीं बनने दिया। निश्चय ही वे महात्मा गांधी से बहुत अधिक प्रभावित थे। यह असम्भव था कि वे प्रभावित न होते, फिर भी वे पूर्ण गांधीवादी कभी नहीं हुए—न कर्म में और न विचार में। केवल विचार में गांधीवादी बनना प्रेमचन्द जैसे सच्चे व्यक्ति के लिए सम्भव भी नहीं था। असहयोग आन्दोलन में उन्होंने सरकारी नौकरी अवश्य छोड़ी, पर आन्दोलन में वह अधिक सक्रिय रूप से सम्मिलित न हो सके। ज्यों-ज्यों राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियां अग्रसर होती गईं, त्यों-त्यों प्रेमचन्द की तार्किक बुद्धि उनका विवेचन करती गई और वह उन शक्तियों को अपनी समस्त सहानुभूति देते गए जिनका उद्योग व्यापक रूप में जन-जीवन को, मुख्यतया भारत के ग़रीब के जीवन को, सुख-संपन्न बनाने के लिए हुआ। जीवन के कुछ अन्तिम वर्षों में उन्हें बम्बई जैसे शहर के जीवन का जब घनिष्ठ परिचय मिला, तब उन्हें सोचने और समझने की नई सामग्री प्राप्त हुई। तब एक प्रकार से उन्होंने अपनी पुरानी धारणाओं पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता अनुभव की। उस समय तक मार्क्सवादी विचारधारा का भी साहित्य में प्रवेश होने लगा था। 'गोदान' उसी समय की रचना है। कुछ समीक्षकों ने यह देखकर कि 'गोदान' के 'होरी' के रूप में प्रेमचन्द ने अपनी सभी पुरानी मान्यताओं और आदर्शों को भस्मीभूत होते दिखाया है तथा अपने सबसे प्रिय पात्र में आदर्शवाद की हार चित्रित की है यह अनुमान किया कि प्रेमचन्द आदर्शवाद को छोड़ शुद्ध यथार्थवाद अपनाने लगे थे और वर्ग-संघर्ष में विश्वास करने वाले मार्क्सवाद की ओर अग्रसर हो रहे थे, गांधीवाद की कुंठाओं और पूर्व-ग्रहों को वे जल्दी-जल्दी छोड़ते जा रहे थे। किन्तु समीक्षा की यह दृष्टि एकांगी और उतावलीपूर्ण है। इसमें प्रेमचन्द की विचारधारा-मात्र पर एक दृढ़ पूर्वग्रह के साथ दृष्टि रखी गई है, उनकी कला के विकास को विस्मृत कर दिया गया है। प्रेमचन्द के पिछले उपन्यासों की सबसे बड़ी कलात्मक और इसी कारण, जीवनादर्श सम्बन्धी त्रुटि यह थी कि वह समस्याओं के कृत्रिम समाधान की ओर दौड़ पड़ते थे, आदर्श के प्रति यह उनका अनुचित मोह था। 'गोदान' में उन्होंने अपनी इस कलात्मक त्रुटि को दूर किया तथा साहस के साथ अपने इस साहित्यिक विश्वास को व्यवहार में परिणत किया कि ट्रैजडी हमें अधिक प्रभावित करती है, वह तथ्य के अधिक निकट है। किन्तु यह कहना कि 'गोदान' और 'कफ़न' ने उस तथाकथित यथार्थवाद और प्रगतिवाद का द्वार खोल दिया था जिसमें प्रेमचन्द के बाद का बहुत सा कथा-साहित्य डूब गया, प्रेमचन्द की इन या इनसे पूर्व की कृतियों के द्वारा निष्पक्ष रूप में सिद्ध नहीं किया जा सकता। फिर भी यह प्रेमचन्द की महत्ता का असंदिग्ध प्रमाण है कि 'प्रगतिवादी' समीक्षकों ने भी, कुछ शर्तों, सफ़ाइयों और क्षमा-याचनाओं के साथ ही सही, प्रेमचन्द को अपनाया और उनकी सराहना की। 'गोदान' आज भी हिन्दी उपन्यासों में शीर्ष स्थान का अधिकारी है।

श्री गोपालकृष्ण 'कौल' ने 'गोदान' की समीक्षा सहानुभूति के साथ की है। किन्तु उनकी दृष्टि विशिष्ट और एकांगी ही कही जायगी।

हिन्दी-साहित्य के इन कीर्ति-स्तम्भों के प्रकाश में अपने साहित्य की यात्रा करते हुए जब हम 'गोदान' पर रुकते हैं तो उसके आगे अनेक उठते हुए प्रकाश-स्तम्भ दिखाई देते हैं।

हमारी विविध रूप साहित्य-निधि के अनेक बहुमूल्य रत्न हमें आकर्षित करते हैं। किन्तु अभी हम इन गौरव-ग्रन्थों के सहारे ही यदि अपनी भाव और विचार-सम्पत्ति को पहचानें तो हमें वास्तव में आत्म-गौरव का अनुभव होगा। आगामी पृष्ठों में अधिकारी विद्वानों द्वारा की गई इनकी समीक्षा से निश्चय ही उन ग्रन्थों के मूल रूप में रसास्वादन की प्रेरणा प्राप्त होगी।



हमारी विविध रूप साहित्य-निधि के अनेक बहुमूल्य रत्न हमें आकर्षित करते हैं। किन्तु अभी हम इन गौरव-ग्रन्थों के सहारे ही यदि अपनी भाव और विचार-सम्पत्ति को पहचानें तो हमें वास्तव में आत्म-गौरव का अनुभव होगा। आगामी पृष्ठों में अधिकारी विद्वानों द्वारा की गई इनकी समीक्षा से निश्चय ही उन ग्रन्थों के मूल रूप में रसास्वादन की प्रेरणा प्राप्त होगी।



सूची

सूची

१

डॉ० विपिनबिहारी त्रिवेदी

पृथ्वीराज रासो

हिन्दी के आदि कवि चन्द वरदाई (चन्द वलद्दिउ) का 'पृथ्वीराज रासो' १२वीं शती के दिल्ली और अजमेर के पराक्रमी हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज चौहान तृतीय तथा उनके महान् प्रतिद्वन्द्वी कान्यकुब्जेश्वर जयचन्द गाहड़वाल, गुर्जरेश्वर भीमदेव चालुक्य और ग़ज़नी के अधिपति सुलतान मुईज़ुद्दीन शाह शहाबुद्दीन गोरी के राज्य, रीति-नीति, शासन-व्यवस्था, सैनिक, सेना, सेनापति, युद्ध-शैली, दूत, गुप्तचर, व्यापार, मार्ग आदि का एक प्रमाण, समता-विषमता की शृङ्खलाओं से जुड़ा हुआ, ऐतिहासिक-अनैतिहासिक वृत्तों से आच्छादित, पौराणिक कथाओं से लेकर कल्पित कथाओं का अक्षय तूणीर, प्राचीन काव्य-परम्पराओं तथा नवीन का प्रतिपादक, भौगोलिक वृत्तों की रहस्यमयी गुफा, सहस्रों हिन्दू-मुस्लिम योद्धाओं के पराक्रम का मात्र-कोष, प्राकृत अपभ्रंशकालीन सार्थक अभिव्यंजना करने में क्षम सफल छन्दों की विराट पृष्ठभूमि, हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी भाषाओं की संक्रान्तिकालीन रचना, गौड़ीय भाषाओं की अभिसन्धि का उत्कृष्ट निदर्शन समकालीन युग का सांस्कृतिक प्रमाण, उत्तर भारत का आर्थिक मानचित्र, विभिन्न मतावलम्बियों के दार्शनिक तत्त्वों का आख्याता तथा मानव की चित्तवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषक यह अपने ढंग का एक अप्रतिम महाकाव्य है, परन्तु हिन्दी-रचनाओं में सम्भवतः सबसे अधिक विवादग्रस्त है।

पाश्चात्य लेखक पढ़ा गए कि हिन्दुओं के यहाँ मुस्लिमों की अपेक्षा इतिहास लिखने की कोई परम्परा नहीं थी—इसी आधारशिला पर खड़े होकर विद्वत् वर्ग 'रासो' की परीक्षा करने उतरा, क्योंकि उसकी परम्पराओं की छाप परवर्ती साहित्य पर थी और राजस्थान के परवर्ती इतिहास को भी उसने प्रभावित कर रखा था। इधर दुर्भाग्यवश महाकाव्य का प्रणेता चन्द कर बैठा था अक्षम अपराध ऐतिहासिक काव्य लिखने का। फिर उस बेचारे के काव्य का पोस्टमार्टम परम आवश्यक हो गया, बाल की खाल नोच-नोचकर रासो को अनैतिहासिक सिद्ध करने वाले प्रमाण खुर्दबीन लगाकर ढूँढ़े गए। पृथ्वीराज के दरबार में कुछ वृत्ति तथा सम्मान पाये हुए काश्मीरी जयानक द्वारा प्रणीत तथा अधूरे प्राप्त 'पृथ्वीराज विजय' मात्र के आधार पर डॉ० बूलर द्वारा रासो को आधुनिक जाल ठहराते देख डॉ० हर्बर्ट मोरीसन ने अपने गुरू के आप्त वाक्य की मीमांसा की जिसे योग मिला मेवाड़ के कविराज शामलदास तथा महामहोपाध्याय डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा-जैसे इतिहासकारों का। डॉ० बूलर के मत की प्रतिक्रिया शीघ्र हुई और कलकत्ता की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी में इस काव्य के सुचारु मनन और अध्ययन में लगे हुए श्री बीम्स, ग्राउज, डॉ० हार्नले-जैसे मेधावी विद्वान् विरत हो गए। पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, बाबू श्यामसुन्दरदास, म० म० मथुराप्रसाद दीक्षित आदि की शंख-ध्वनि नक्कारखाने में तूती की आवाज बनकर रह गई, इसीलिए न कि ये इतिहासकार नहीं थे वरन् थे साहित्यकार। रासो के

ऐतिह्य पर सन्देह प्रकट करने वाले इतिहासकारों ने इतिहास-विरोधी अंशों का रासो में संकलन करके दस-पाँच प्रामाण्य तर्क पेश किये, परन्तु साहित्यकारों को कवि का उपहासकारी मान बैठने वालों के न्यायालय में क्या उतना गौरव न था कि वे यह भी परखते कि इस काव्य में ऐतिहासिक तत्त्व कितने हैं। रासो की ऐतिहासिक विवेचनाओं की विपुल राशि के संग्रह में अनैतिहासिक तत्त्व बराबर मिल होंगे—जिनका परवर्ती प्रक्षेप होना भी असम्भव नहीं—यह सब एक साहित्य-सेवी के नाते प्रस्तार हैं।

इधर बम्बई से एक सिंह-गर्जन हुआ है। जैन ग्रन्थागारों में सुरक्षित १५वीं शती में रचित पृथ्वीराज और जयचन्द के सम्बन्ध प्रबन्धों में आगे चंद बलिद्दक (चंद बरदाई) के नाम अपभ्रंश छन्दों के आधार पर जो सत्ता वाले 'रासो' में किंचित् विकृत रूप में वर्तमान हैं, विख्यात वयोवृद्ध साहित्यकार मुनिराज जिनविजय ने घोषणा की है कि पृथ्वीराज के कवि चंद बरदाई ने अपनी मूल रचना अपभ्रंश में की थी। इस गर्जन से व्यथित होकर चन्द बरदाई तक के अस्तित्व को अस्वीकार कर देने वाले इतिहासकार चुप हैं, सुन-सुन, सोते हुए से, किसी नवीन तर्क की आशा से शिलालेखों और ताम्रपत्रों की छान में संलग्न। कुशल हुई कि शिलालेख मिल गए, नहीं तो कौन जानता है पृथ्वीराज, जयचन्द और संयोगिता का अस्तित्व भी इन इतिहासकारों ने खतरे में डाल दिया होता। वे कभी-कभी भूल जाते हैं कि उनके ऐतिहासिक सिद्ध करने वाले तत्त्वों द्वारा दिये गए प्रमाणों के अभाव में लिखित साहित्य से ही नहीं वरन् लौकिक-साहित्य के आधार पर भी इतिहास का कलेवर भरा जाता है। 'रासो' अपने पारखियों का मूल्यांकन करने के लिए फिर उनसे माँग कर रहा है और यदि उन्होंने पक्षपात को न अपनाया तो कल्हण की 'राजतरंगिणी-सदृश 'रासो' भी उन्हीं के द्वारा एक अपवाद मान लिया जायगा।

ऐतिहासिक वाद-विवादों के कोलाहल से दूर 'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी-साहित्यकारों की अमूल्य विरासत है। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से यह एक अनूठी रचना है। इस काव्य के आदि तथा अन्त में कवि ने स्पष्ट लिख दिया है कि 'रासो' में सात हज़ार रूपक हैं, परन्तु नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'रासो' में १६३०६ छन्द पाये जाते हैं। इस प्रकार देखते हैं कि रासो का आकार मूल से सवा दो गुना अधिक बढ़ गया है। पंजाब-विश्वविद्यालय के श्री वुलनर द्वारा शोधित 'रासो' की छोटी वाली प्रति में छन्द-संख्या आर्या छन्द से लगभग सात हज़ार है और बीकानेर की प्रति में पाँच हज़ार ही बतलाई जाती है। ये दोनों संस्करण अभी प्रकाशित नहीं हुए हैं, परन्तु जहाँ तक ऐतिहासिक आक्षेपों का प्रश्न है वे इनमें भी अंशतः वर्तमान हैं। प्रकाशित 'रासो' में प्रक्षेपों के घटाटोप की सम्भावना को भलीभाँति जानते हुए भी वर्तमान स्थिति में उन्हें पृथक् करने की कठिनाई के कारण उस सम्पूर्ण सामग्री को काव्य की कसौटी पर लाने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

वस्तु-वर्णन—काव्यों में विस्तृत विवरण के दो रूप होते हैं—एक वस्तु वर्णन द्वारा और दूसरा पात्र द्वारा भावाभिव्यंजना से। वस्तु-वर्णन की कुशलता इतिवृत्तात्मक अंश को बहुत कुछ सरस बना देती है। 'रासो' में ऐसे फुटकर वर्णनों का ताँता लगा हुआ है जिन्हें कवि ने वर्णन-विस्तार हेतु चुना है। संक्षेप में उनका उल्लेख इस प्रकार है—

व्यूह-वर्णन—भारत की हिन्दू सेनाओं का व्यूह-बद्ध होकर लड़ने का विवरण मिलता है और कभी-कभी मुस्लिम-सेना को भी किसी भारतीय व्यूह को अपनाये युद्ध करता हुआ बतलाया

गया है। व्यूह-वर्णन के ढंग की परम्परा कवि को महाभारत से मिली प्रतीत होती है। एक स्थल देखिए—

इम निसि वीर कढिय समर, काल फन्द अरि कढ्ढि।
होत प्रात चित्रंग पहु, चक्राव्यूह रचि ठढ्ढि॥
समर सिंह रावर, नरिंद कुण्डल अरि घेरिय।
एक-एक असवार, बीच बिच वाइक फेरिय॥
मद सरक्क तिन अग्ग, बीच सिल्लार सु भीरह।
गोरंधार विहार, सोर छुट्टै कर तीरह॥
रन उद्दै-उद्दै वर अरुन हुए, दुहू लोह कढ्ढी विभर।
जल उकति लोह हिल्लोर; कमल हंस नंचै सु सर॥

मुस्लिम इतिहासकारों ने हिन्दू-सेना को बिना किसी ढंग के अस्त-व्यस्त युद्ध करने वाला वर्णन किया है तथा अपने पक्ष की युद्ध-शैली का विवरण देते हुए कहीं यह उल्लेख नहीं किया है कि उनमें भारतीय युद्ध-पद्धति कभी अपनाई जाती थी।

नगर-वर्णन—अनेक नगरों, ग्रामों और दुर्गों का नाम गिनाने वाले इस महाकाव्य में अन्हलवाड़ा पट्टन, कन्नौज, दिल्ली और गजनी के वर्णन विस्तृत हैं जो सम्भवतः युगीन चार शासकों की राजधानियाँ होने के कारण किये गए प्रतीत होते हैं। इन वर्णनों को अनुमान या काव्य-परम्परा के आधार पर नहीं किया गया है वरन् इनमें एक प्रत्यक्षदर्शी का अनुभव सन्निहित है। पट्टनपुर के वर्णन का एक अंश देखिए :

तिन नगर पहुच्यौ चन्द कवि। मनों कैलास समाप लहि॥
उपकंठ महल सागर प्रवल। सघन साह वाहन चलहि॥
सहर दिप्पि अंपियन। मनहु वद्दर वाहनु दुति॥
इक चलंत आवन्त। इक्क ठलवन्त नवनि भति॥
मन दन्तन दन्तियन। इला उप्पर इल भारं॥
विप भारथ परि दन्ति। किए एकठ व्यापारं॥
रजकंच लप्प दस बीस वहु। दोइ गंजन बादह परयौ॥
अन्नेक चीर सूपरू फिरंग। मनों मेर कंठै भरयौ॥

पनघट-वर्णन—श्रीमद्भागवत् में कृष्ण की यमुना-तट पर की हुई लीला के वर्णन ने क्रमशः कालान्तर में साहित्य में पनघट-वर्णन की परम्परा का सृजन किया था। रासोकार ने भी पनघट की चर्चा की है। पट्टनपुर और वहाँ की सुन्दरियों का वर्णन करते हुए कवि का कथन है कि अप्सराओं जैसी सुन्दरियाँ कामदेव के रथ से उतरकर सरोवर में अपने घड़े भर रहीं थीं :

भरे जु कुम्भयं घनं, इला सुपानि गंगनं।
असा अनेक कुण्डनं, ...॥
सरोवरं समानयं, परीम रंभ जानयं।
चतक्क सार संभयं, अनेक हंस क्रम्मयं॥
भरै सु नीर कुम्भयं, ...।
अरुड़ काम रथ्थयं, सु उत्तरी समथ्थयं॥

सूफी कवि जायसी ने भी 'पद्मावत' में पनघट का सुन्दर वर्णन किया है। बूढ़े आचार्य केशव ने पनघट पर ही अपने सफेद बालों को कोसा था। रीतिकालीन कवियों ने अपनी काफी प्रतिभा पनघट के दृश्य-वर्णन में खर्च की है।

विवाह-वर्णन—रासो में कई विवाहों का उल्लेख है परन्तु दो विवाह इंछिनि ब्याह और प्रिया ब्याह विस्तृत रूप से स्वतन्त्र प्रस्तावों में वर्णित हैं। इनमें हमें ब्राह्मण द्वारा लग्न भेजने से लेकर, तिलक, विवाह-हेतु यात्रा और बारात, अगवानी, तोरण, कलश, द्वारचार, जनवासा, कन्या का शृङ्गार, मण्डप, मंगल गीत, गाँठबन्धन, गणेश, नवग्रह, कुलदेवता, अग्नि, ब्राह्मण आदि के पूजन, शाखोच्चार, कन्यादान, भाँवरी, ज्योनार, दान, दहेज, विदाई और वधू का नख-शिख सभी विस्तारपूर्वक पढ़ने को मिलते हैं। ये विवाह साधारण व्यक्तियों के नहीं वरन् तत्कालीन युग के प्रतिनिधि शासकों पृथ्वीराज और चित्तौड़-नरेश रावल समरसिंह (सामन्तसिंह) के हैं अतएव इनमें हमें राजसी ठाट-बाट और अनुकूल दान-दहेज का वर्णन मिलता है। हिन्दू के जीवन के सोलह संस्कारों में विवाह-प्रथा भी एक है और इस परम रूढ़िवादी जाति ने अपनी परम्पराओं में परिवर्तन स्वीकार नहीं किये हैं, जो दो-चार कहीं-कहीं दिखाई भी पड़ जाते हैं वे प्रादेशिक के मूल में योग-मात्र हैं। कन्या के शृङ्गार-वर्णन में कवि को पुष्पों, वस्त्रों और आभूषणों की एक संख्या देने का अवसर मिल गया है।

युद्धोत्साह और युद्ध-वर्णन—रासो-जैसे वीर काव्य में इनकी दीर्घ संख्या होना स्वाभाविक है। ये वर्णन विस्तृत तो हैं ही परन्तु साथ ही वर्णन-कुशलता और अनुभूति के कारण अपना प्रभाव डालने में पूर्ण समर्थ हैं। कवि की प्रतिभा का योग योद्धाओं के उत्साह की सुन्दर अवतारणा करा सका है।

उत्सव-वर्णन—नवरात्र, नवदुर्गा, विजयादशमी, दीपावली, वसन्त और होली का कवि वर्णन करता है परन्तु इनमें दीपोत्सव और होली का संभवतः युग के विशेष उत्सव मानकर पृथक् रूप से वर्णन किया गया है। इन प्रसंगों में पृथ्वीराज की जिज्ञासा पर चन्द ने उक्त उत्सवों की उत्पत्ति की मनोरंजक कथाएँ बतलाई हैं।

ज्योनार-वर्णन—के मिस कवि ने विधि-विधि के भोजनों के नामों की अपनी जानकारी प्रदर्शित करने का अवसर पाया है। परन्तु जायसी और सूदन की भाँति उसका वर्णन खटकने वाला नहीं है। राजा के भोज में पारुस का विधिवत् वर्णन इस प्रकार किया गया है कि वह प्रधान कथानक का अंश बन गया है। महाराज पृथ्वीराज के राजसी ठाट-बाट के औचित्य का निर्वाह करते हुए कवि ने युग के खाद्य पदार्थों पर यथेष्ट प्रकाश डाला है।

षट्'ऋतु बारह मास-वर्णन—रासो के देवगिरि समय में वर्षा और शरद् का चित्रण है और ये वर्णन पृथ्वीराज द्वारा यादवकुमारी की प्राप्ति-हेतु विरह में सञ्चारी रूप से आये हैं। पुरुष-विरह-हेतुक ये वर्णन ऋतु विशेष के स्पष्ट सूचक भी हो सके हैं। षट् ऋतुओं का ललित वर्णन कनवज्ज खण्ड में अधिक विस्तार से मिलता है। पृथ्वीराज कन्नौज जाने के लिए प्रस्तुत हैं और यह वसन्त ऋतु है। वे महारानी इंछिनी के महल में उनकी सम्मति लेने के लिए गये। रानी ने वसन्त का आगमन और उस ऋतु में अपना विरह-कष्ट वर्णन करते हुए राजा को रोका और वे रुक गए। इसी प्रकार शेष पाँच ऋतुओं में वे अन्य पाँच रानियों के पास ठहरे। कथा के इस प्रसंग में षट् ऋतुओं का रोचक वर्णन पढ़ने को मिलता है। यद्यपि उद्दीपन को लेकर ही

इनकी रचना हुई है परन्तु यह रासोकार के ऋतु-विषयक ज्ञान, निरीक्षण और वर्णन-कौशल का परिचायक है। प्रत्येक ऋतु को कवि ने साकार रूप देने की चेष्टा की है। उदाहरणार्थ वर्षा को ले लीजिये :

अब्दे बद्दल मत्त मत्त विपया दामिन्य दामायते।
दादूरं दर मोर सोर सरिसा पप्पीह चीहायते॥
श्रृङ्गारीय वसुन्धरा मलिलता लीला समुद्रायते।
जामिन्या सम वासुरो विसरता पावस्स पंथानते॥

नख-शिख और श्रृङ्गार-वर्णन—इनके बारह प्रसंग हैं जिनमें से अधिकांश में पृथ्वीराज से विवाहित होने वाली राजकुमारियों का सौन्दर्य वर्णित है। सबसे विस्तृत और विशद कन्नौज की राजकुमारी संयोगिता का नख शिख है। इन प्रकरणों में स्नान से वर्णन प्रारम्भ करके, केश धोने, उबटन लगाने, वेणी गूँथने, मोती बाँधने, बिन्दी देने तथा विभिन्न आभूषण धारण करने के साथ-साथ नख-शिख-वर्णन भी मिश्रित है। कहीं-कहीं एक छप्पय छन्द में ही सारा नख-शिख वर्णित है और कहीं विस्तृत रूप में है। प्रसिद्ध उपमानों के अतिरिक्त नवीन सफल और असफल उपमानों की भी योजना है। इन वर्णनों में चमत्कारिक रूपकों का समावेश भी मिलता है! यथा :

ऐरापति भय मानि। इंद गज बाग प्रहरं॥
उर सँजोगि रस मद्दि। रह्यौ दबि करत विहरं॥
कुच उच्च जनु प्रगटि। उकसि कुम्भस्थल आइय॥
तिहि ऊपर स्यामता। दान सोभा सरसाइय॥
विधिना निमंत मिट्टत कवन। कीर कहत सुनि इंच्छिनिय॥
मनमथ्थ समय प्रथिराज कर। करज कोस अंकुस बनिय॥

वयःसन्धि अवस्था बालाओं के जीवन में सौन्दर्य-विकास की एक अप्रतिम घटना और अद्भुत व्यापार है। रासोकार ने इसका कुशल चित्रण किया है। एक आंशिक प्रसंग देखिए :

ज्यों करकादिक मकर में। राति दिवस संक्रान्ति॥
यों जुव्वन सैसव समय। आनि सपत्तिय कान्ति
यों सरिता अरु सिन्ध सँधि। मिलत दुहून हिलोर॥
त्यों सैसव जल संधि में। जोवन प्रापत जोर॥

कबन्ध-युद्ध-वर्णन—रामायण के कबन्ध राक्षस की मृत्यु के उपरान्त विश्वावसु गन्धर्व का जन्म, महाभारत में संसार के प्राणियों के विनाशकारी अशुभ चिह्नस्वरूप असंख्य कबन्धों का खड़ा होना और पुराणों की राहु के अमर कबन्ध की गाथा ने क्रमशः साहित्य में कबन्धों के युद्ध करने की परम्परा डाली होगी। रासो-जैसे वीर काव्य में उनकी अनुपस्थिति किंचित् आश्चर्यजनक होती। कबन्धों के युद्ध अद्भुत रस का परिपाक करते हुए वीर और रौद्र भावों को उत्तेजना देने वाले हैं। एक स्थल दिया जाता है :

लरत्त सीस तुट्यौ सु हर। धर उठ्यौ करि मार॥
घरी तीन लौं सीस बिन। कट्टे तीस हजार॥
बिन सीस इसी तरवारि बहै। निघटै जनु सावन वासमहै॥
धर सीस निरास हुअंत इसे। सुभ राजन राह रुकंत जिसे॥

अन्य वर्णन—मुख्य कथानक छोड़कर रासो में हमें अनेक वर्णन मिलते हैं जिनमें से कुछ का लगाव प्रधान कथा से बड़े ही सूक्ष्म तन्तुओं से जुड़ा हुआ है। इन वर्णनों को हटा देने से कोई बाधा पड़ने की सम्भावना भी नहीं है। महाभारत, भागवत और भविष्य पुराण आदि के आधार पर राजा परिक्षित के तक्षक-दंशन, जनमेजय के सर्प यज्ञ और आबू पर्वत के उद्धार तथा दशावतार की कथा ऐसे ही प्रसंग हैं। इनके अतिरिक्त अन्य छोटे स्थलों की भी एक संख्या है तथा पृथ्वीराज की जिज्ञासा-पूर्ति हेतु कवि समाविष्ट अनेक मनोहर उपाख्यान जुड़े हुए हैं जो उसकी जानकारी, अनुभव, प्रत्युत्पन्नमति तथा अध्ययन के परिचायक हैं। इनमें विनोद की मात्रा भी पर्याप्त है।

वस्तुओं के ये विस्तृत वर्णन और व्यापार मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति के आलंबन हैं। इनसे भिन्न-भिन्न स्थायी भावों की उत्पत्ति होने के कारण इनमें रसात्मकता का पूरा आभास मिलता है।

भावाभिव्यंजना

रासो युद्ध-प्रधान काव्य है और पृथ्वीराज-सदृश वीर योद्धा का जीवन-वृत्त होने के कारण इसमें उस समय की आदर्श वीरता का चित्रण मिलता है। क्षात्र-धर्म और स्वामि-धर्म-निरूपण करने वाले इस काव्य में तेजस्वी क्षत्रिय वीरों के युद्धोत्साह तथा तुमुल और बे-जोड़ युद्ध दर्शनीय हैं। असार संसार में यश की श्रेष्ठता और प्रधानता को दृष्टिगत करके उसकी प्राप्ति स्वामि-धर्म-पालन में निहित की गई है। स्वामि-धर्म की अनुवर्तिता का अर्थ है प्रतिपक्षी से युद्ध में तिल-तिल करके कट जाना परन्तु मुँह न मोड़ना। इस प्रकार स्वामि-धर्म में शरीर नष्ट होने की बात को गौण रूप देकर यश सिरमौर कर दिया गया है। और भी एक महान् प्रलोभन तथा इस संसार और सांसारिक वस्तुओं से भी अधिक आकर्षक भिन्न लोक-वास तथा अनन्य सुन्दरी अप्सराओं की प्राप्ति है। धर्म भीरु और त्यागी योद्धा के लिए शिव की मुण्डमाला में उसका सिर पोहे जाने तथा तुरन्त मुक्ति-प्राप्ति आदि की व्यवस्था है। 'कर्म बन्धन को मिटाने वाले, विधि के विधान में सन्धि कर देने वाले, युद्ध की भयंकर विषमता से क्रीड़ा करने वाले भीम शूर सामन्त स्वामी (पृथ्वीराज) के कार्य में मति रखने वाले हैं, स्वामि-कार्य में लगकर इन श्रेष्ठ मति-वालों के शरीर तलवारों के वारों से खण्ड-खण्ड हो जाते हैं और शिव उनके सिरों को अपनी मुण्डमाला में डाल लेते हैं। क्षत्रिय शरीर का केवल स्वामि-धर्म ही साथी है जो कर्मों के भोग से छुटकारा दिला सकता है। शूर सामन्तो का स्वामि-धर्म धन्य है, क्योंकि वे लड़ना और मरना ही जानते हैं'—इस प्रकार के विचारों से रासो ओत-प्रोत है। उस युग की वीरता का यह आदर्श कि स्वामि-धर्म ही प्रधान है कोरा आदर्श-मात्र न था। उसका संस्थापन सेना के स्थायित्व तथा विशेष रूप से उसकी युद्धोन्मित प्रवृत्ति की जागरूकता को ध्यान में रखते हुए अति आवश्यक अनुशासन (discipline) को लेकर हुआ था। अनुशासन ही सेना और युद्ध की प्रथम आवश्यकता है। आदिकाल से लेकर आज तक सेना में अनुशासन की दृढ़ता रखने के लिए नाना प्रकार के नियमों का विधान पाया जाता है। यहाँ आज्ञाकारिता को दासता से जोड़ना ठीक नहीं है, क्योंकि उस युग में किराये के टट्टुओं से भारतीय सम्राटों की सेनाएँ नहीं सजाई जाती थीं। युद्ध क्षत्रियों का व्यवसाय था और स्वामि-धर्म हेतु प्राणोत्सर्ग करना उनका कर्तव्य था। यहाँ दासता और धन के लोभ का प्रश्न उठाना तत्कालीन वीर युग की भावना को समझने में भूल करना है। सम्राट् या सेनापति की आज्ञा-पालन

के अनुशासन को चिरस्थायी और व्रतस्वरूप बनाने के लिए स्वामि-धर्म का इतना उत्कट प्रचार किया गया था कि वह सामान्य सैनिकों की नसों में कूट-कूटकर भर गया था और इसी आदर्श की रक्षा में उनके कट मरने का कार्य दुहाई दे रहा है। दार्शनिक जामा पहने हुए स्वामि-धर्म योद्धा का परम आभूषण था।

इस प्रकार के वातावरण में रहते हुए प्रतिदिन ऐसे ही विचारों और दृढ़ विश्वासों के संघटन में पड़कर तत्कालीन योद्धा की अन्तर्मुखी वृत्ति असार संसार में यश की अमरता और स्वामि-धर्म के प्रति जागरूक हो जाती होगी, तभी तो हम देखते हैं कि युद्धकाल इन योद्धाओं के लिए अनिर्वचनीय आनन्द का क्षण उपस्थित करता था। लड़कर मर मिटने वाले इन असीम साहसी योद्धाओं के उद्‌गार कितने प्रभावशाली हैं और साथ ही इनका वीरोचित उत्साह भी देखते ही बनता है :

(१) करतार हथ्थ तरवार दिय। इह सुतत्त रजपूत कर॥
(२) रजपूत मरन संसार बर॥
(३) सूर मरन मंगली॥
(४) मरना जाना हक्क है। जुग्ग रहेगी गल्हाँ॥
सा पुरुसाँ का जीवना। थोड़ाई है भल्लाँ॥
(५) जीविते लभ्यते लक्ष्मी मृते चापि सुरांगना।
क्षणो विध्वंसिनी काया का चिन्ता मरणे रणे॥

सात सौ वर्षों से जनता के कंठ में प्रतिध्वनित होने वाले जगनिक के 'आल्हखण्ड' में भी मृत्यु से खेल करने वाले क्षत्रियों की वाणी सुनाई देती है :

(१) बारह बरिस लै कूकर जीयैं, औ तेरह लौं जियैं सियार।
बरस अठारह क्षत्रिय जीवैं, आगे जीवन कै धिक्कार॥
मरना मरना है दुनियाँ मा, एक दिन मरि जैहै संसार।
(२) स्वर्ग मढ़ैया सब काहू कै, कोऊ आज मरै कोउ काल॥
खटिया परि कै जो मरि जैहो, कोउ न लैहै नाम अगार।
चढ़ी अनी पै जो मरि जैहो, तौ जस रहै देस में छाय॥
जो मरि जैहो खटिया परि कै, कागा गिद्ध न खइहैं माँस।
जो मरि जैहो रन खेतन में, तुमरो नाम अमर होइ जाय॥
मरद बनाये मरि जैबे को, और खटिया पै मरै बलाय॥

कायरों में भी वीरता फूँक देने वाले उस युग को हमारे साहित्यिकों ने उचित ही वीर-गाथाकाल नाम दिया है और हमारा 'पृथ्वीराज रासो' अपने युग के वीरों की वीरोचित गाथा से परिपूर्ण है।

इस वीर गाथात्मक काव्य में वीर रस खोजने का प्रयास नहीं करना होगा। ये स्थल अपने-आप ही हमारे सामने आते रहते हैं और बरबस हमारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। आलंबन, उद्दीपन, अनुभाव और संचारियों की सांगोपांग योजना युद्ध-वीर रस की निष्पत्ति करती हुई अपनी उत्साह-भंगिमा द्वारा दूसरों को भी प्रभावित करती है। एक स्थल

[illegible] । [illegible] ॥
[illegible] । [illegible] ॥
[illegible] । [illegible] ॥
[illegible] । [illegible] ॥
[illegible] । [illegible] ॥
[illegible] । [illegible] ॥

[illegible]

उत्साह और वीर [illegible] द्वारा पुष्ट [illegible] नहीं है परन्तु [illegible] है । [illegible] कि इन विरोधी [illegible] की [illegible] थी, जो [illegible] आदि की जागीर रूप में मिली [illegible] प्रतीत है और [illegible] के [illegible] में [illegible] पा लिये [illegible] तोड़ दिये गए हैं ।

रासो में जो स्थिति उत्साह की है वही क्रोध की भी है । युद्ध-स्थल के सभी प्रसंगों में उसकी कुशल अभिव्यक्ति देखी जा सकती है । कहीं-कहीं उसके साथ जुगुप्सा भी है । यथा :

भज्जे भज्जन लाग कूल ट्टै हंकि जगि गीर ।
विरमे सूर सपूर चढ़ि कंपि कनक्क अधीर ॥
छुट्टियं हथनालि हुश्च दल गोम स्फोमह गज्जियं ।
उट्ठियं आतस झार झारह धोम धुंधर सज्जियं ॥
छुट्टियं बान कमान पानह छाह आयस रज्जियं ।
निरषंत अच्छरि सूर सुन्दर मज्जि पाप मज्जियं ॥
परि भीम हथ्थहि धर हहथ्थहि अंत पाइ अलुज्झ्यं ।...

बीभत्स का प्रसंग पृथक् नहीं वरन् युद्ध के अन्तर्गत ही आता है । योगिनियों का रुधिर पीना, गीधों का चिल्लाना आदि स्वाभाविक दृश्यों का इनमें चित्रण पाया जाता है :

पत्र भरैं जुग्गिनि रुधिर, गिध्धिय मंस डकारि ।
नच्यौ ईस उमया सहित, रुण्डमाल गल धारि ॥

युद्ध-भूमि में भयङ्कर वेश वाले योगिनी, डाकिनी, भूत, प्रेत, पिशाच, भैरव आदि के नृत्य और किलकारियाँ, कबन्धों का दौड़ना, पलचरों का गाना आदि बहुधा भय की प्रतीति भी कराने लगता है परन्तु यह सहचारिता उचित और संभव है ।

स्वतन्त्र रूप से भयानक रस का परिपाक ढुण्ढा दानव के प्रसङ्ग में मिलता है। ढूँढ़कर मनुष्यों को खाने वाले विकराल ढुण्ढा दानव ने सारा अजमेर नगर उजाड़ डाला, उसके भय से उस नगर के समीपस्थ वन में किसी जीव का प्रवेश न था और दिशाएँ भी शून्य हो गई थीं, उसकी घोर हिंसकता के आगे मानव तथा अन्य जीवों की क्या चर्चा, सिंह-सदृश हिंसक जन्तु भी पलायन कर चुके थे। यथा :

सो दानव अजमेर वन, रह्यौ द्रोह घन अन्त।
सुन्न दिसानन जीव को, थिर थावर जग मन्त ॥
तहँ सिंह न म्रग्ग न पंखि वनं। दिसि सून भई डर जीव घनं ॥
तिहि ठाम गजं वर थाजि ननं। तिहँ ठाम न सिद्धय साधकनं ॥

पाँच सौ हाँथ ऊँचा, हाथ में विकराल खड्ग लिये ढुण्ढा मुँह से ज्वालाएँ फेंका करता था :

अंगह मान प्रमान। पंच सै हाथ उनै कह ॥
इह ऊँचो उनमान। विनय लच्छिनह विवेकह ॥
हथ्थ खड्ग विकराल। मुप्प ज्वालंधन सद्दह ॥

ऋषि द्वारा पृथ्वीराज को अन्धे किये जाने के श्राप में भी भयानक रस की अवतारणा मिलती है। इनके अतिरिक्त युद्ध-भूमि में भूतों-प्रेतों का नृत्य-गाना आदि दृश्य भी इस रस के प्रसंग हैं।

हास्य के स्थल रासो में अति थोड़े हैं। एक-आध स्थान पर वर्णन और वेश के कारण उसकी संभावना हुई है। कान्यकुब्जेश्वर के दरबार में महाराज जयचन्द और चन्द वरदाई के प्रश्नोत्तरों में वह उद्भूत हुआ है। कवि को अपने से अधिक पृथ्वीराज का पराक्रम बखानते देखकर जयचन्द ने उससे श्लेष वक्रोक्ति द्वारा पूछा कि मुँह का दरिद्री, तुच्छ जीव, जंगलराव (भील; पृथ्वीराज) की सीमा में रहने वाला वरद (बैल; वरदायी) क्यों दुबला है :

मुह दरिद्र अरु तुच्छ तन, जंगलराव सु हद्द।
वन उजार पसु तन चरन, क्यों दूबरौ बरद्द ॥

उद्भट कवि ने उन्हें उत्तर दिया कि चौहान ने अपने घोड़े पर चढ़कर चारों ओर अपनी दुहाई फेर दी, अपने से अधिक बलवानों के साथ उन्होंने युद्ध किया, शत्रुओं में किसी ने पत्ते पकड़े, किसी ने जड़ें और किसी ने तिनके, अनेकों भयभीत होकर भाग खड़े हुए; इस प्रकार शत्रुओं ने सारा रण चुन लिया और बैल दुबला हो गया :

चढ़ि तुरंग चहुआन आन फेरीत परद्धर।
तास जुद्ध मण्डयौ जास जानयौ सबर वर ॥
केइक गहि तकि पात, केइ गहि डार मूर तर।
केइक दन्त तुच्छ भिन्न, गए दस दिसनि भाजि डर ॥
भुअ लोकत दिन अचिरज भयौ, मान सबर बर मरदिया।
प्रथिराज पलन पद्धौजु पर, सु यौ दुब्बरौ बरद्दिया ॥

जयचन्द ने फिर व्यंग्य किया और कवि ने फिर फब्ती कसी। अन्त में महाराज ने निरुत्तर होकर कवि को वरद के स्थान पर विरुद वाले कहकर संबोधित किया, परन्तु कवि ने पूर्व कही हुई

'वरद' की महिमा की विवेचना करते हुए उन्हें ऐसी उपाधि देने के लिए धन्यवाद दिया। यह स्थल व्यंग्यात्मक हास्य का अनूठा स्थल है।

आश्चर्य पैदा करने वाले स्थल 'रासो' में अनेक हैं। शापवश मनुष्य का मृत्यु के उपरान्त असुर हो जाना और असुर का मनुष्यों को ढूँढ़-ढूँढ़कर खाना वीरों का वशीकरण, देवी की सिद्धि और साक्षात्कार, गड़े खजाने से दैत्य और पुतली का निकलना, मन्त्र-तन्त्र की विलक्षण करामातें, वरुण के वीरों की उछल-कूद, वीर गति पाने वालों का अप्सराओं द्वारा वरण, आत्माओं का भिन्न लोकवास, कबन्धों का युद्ध आदि इसी प्रकरण के प्रसंग हैं। कवि ने इनका वर्णन इस प्रकार किया है जैसे ये अघटित घटनाएँ न होकर सत्य और साधारण हों।

वीर-गाथा-काव्य होने के कारण शान्त रस का 'रासो' में प्रायः अभाव-सा ही पाया जाता है और वीर रस का विरोधी होने के कारण भी निर्वेद की व्यंजना के लिए अवसर भी नहीं है। युद्धोपरान्त एक स्थल पर शिव और पार्वती के वार्तालाप के प्रसंग में जन्म-मरण की व्याख्या करते हुए, कर्मानुसार जीव के जन्म के बन्धन में पड़ने और आत्मा का माया आदि प्रपंचोपशम से निराकार अद्वैत ब्रह्म में समाहित होने का उल्लेख है। मम्मट और विश्वनाथ की काव्य-कसौटी पर 'रासो' का यही एक प्रसंग शम का सिद्ध होता है। इस रस का संकेत करने वाले दो प्रसंग और हैं—एक तो ढुण्ढा दानव की कठोर तपस्या और दूसरा दिल्लीश्वर अनंगपाल का वैराग्य। ढुण्ढा ने जीवन्मुक्ति हेतु तपस्या नहीं की थी और अनंगपाल का वैराग्य सात्विक न था, वे सर्वस्व त्याग कर विरक्त हुए परन्तु उस त्यागी हुई वस्तु की प्राप्ति हेतु फिर झुके, युद्ध किया, पराजित हुए तब पुनः तपस्या करने चले गए—अस्तु ये दोनों स्थल शान्त रस के विधायक नहीं कहे जा सकते।

वीर और रौद्र रस-प्रधान 'रासो' में शृङ्गार की स्थिति गौण नहीं है। युद्ध-वीर स्वभावतः रति-प्रेमी पाये गए हैं। किसी की रूपवती कन्या का समाचार पाकर अथवा कन्या द्वारा उसे अपने माता-पिता की इच्छा के विपरीत आकर वरण करने का सन्देश पाकर उक्त कन्या का अपहरण करके उसके पक्ष वालों से भयंकर युद्ध और इस युद्ध में विजयी होकर कन्या का पाणिग्रहण तथा प्रथम मिलन आदि के वर्णनों में हमें वियोग और संयोग के चित्र मिलते हैं। नायक और नायिका के परस्पर गुण रूप आदि श्रवण-मात्र से अनुराग और तज्जनित वियोग कष्ट के वर्णन काम-पीड़ा के प्रतीक हैं। संयोग के अनन्तर वियोग का वर्णन आचार्यों ने भी स्वीकार किया है परन्तु संयोग से पूर्व ही वियोग का कष्ट वांछित प्रेमी या प्रेमिका को प्राप्त करने में बाधाएँ और कामोत्तेजना को लेकर ही पैदा होता है। वैसे ऊषा-अनिरुद्ध, नल-दमयन्ती आदि के प्रेम की काव्य-परम्परा का पालन भी 'रासो' में होना असम्भव नहीं है।

विवाह के पूर्व और उपरान्त सुन्दर राजकुमारियों के नख-शिख-वर्णन तदुपरान्त काम क्रीड़ा और सहवास यद्यपि शृङ्गार रस के ही अन्तर्गत हैं परन्तु उनमें वस्तु-स्थिति का निर्देश संकेत द्वारा न होने के कारण कहीं-कहीं अश्लीलत्व-दोष भी आ गया है। यह रति भाव क्या है, केवल उद्दाम वासनाओं का नग्न चित्रण ही न। इन स्थलों को पढ़ते ही उस युग की विलासिता का चित्र सामने आ जाता है। नायिका-भेद को दृष्टिगत करके काव्य का प्रणयन नहीं किया गया है फिर भी नवोढा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका आदि अपने स्वाभाविक रूप में दिखाई पड़ जाती हैं। शृङ्गार वर्णन में संयोग की प्रधानता है। विप्रलम्भ का एक विशिष्ट स्थल है संयोगिता से पृथ्वीराज का प्रथम वियोग और अन्तिम मिलन। इस प्रसंग का प्रारम्भ और अन्त प्रायः परम्परा

भुक्त है परन्तु उसका निम्न वर्णन अति मार्मिक है :

घर घयार बज्जिग विषम । हलिग हिन्दु दल हाल ॥
दुतिय चन्द पूनिम जिमे । वर वियोग बढ़ि बाल ॥
वर वियोग बढ़ि बाल । लाल प्रीतम कर छुट्टौ ॥
है कारन हा कन्त । श्रास श्रसु जानि न फुट्टौ ॥
देपन्त नैन सुझ्झै न दिसि । परिय भूमि संथार ॥
संजोगी जोगिन भई । जब बज्जिग घरियार ॥

उपर्युक्त छन्द में 'विषम', 'देपन्त नैन सुझ्झै न दिसि' और 'संजोगी जोगिन' बड़े ही सार्थक प्रयोग हैं। निर्जीव वस्तु घड़ियाल अथवा उसके शब्द को किसी की समता विषमता से क्या प्रयोजन हो सकता था परन्तु प्रियतम के प्रवास-हेतुक वियोग की निर्दिष्टि के कारण लक्षणा का आरोप करके कवि ने संयोगिता की मानसिक अवस्था में विषमता घटित करके उसे वियोगावस्था का प्रारम्भिक चरण बना दिया है। वियोग के इस प्रकरण में प्रवत्स्यत् प्रेयसी संयोगिता के वर्तमान-प्रवास-हेतुक-वियोग का संकेत करके कवि ने उस वियोगिन के भूत-प्रवास-हेतुक-विप्रलंभ का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। दोनों प्रकार के वियोगों की मिलन-सन्ध्या बड़े कौशल से प्रस्तुत की गई है।

शोक के प्रसंग रासो में इने-गिने हैं। कमधज्ज नरेश के भाई बालुकाराव की मृत्यु पर अशुभ स्वप्न देखने के उपरांत उसकी स्त्री का विलाप, कन्नौज-युद्ध में प्रमुख सामन्तों के मारे जाने पर पृथ्वीराज का शोक, ग़ज़नी के कारागार में वन्दी पृथ्वीराज का नेत्र-विहीन किये जाने के उपरान्त पश्चाताप तथा अन्तिम युद्ध का परिणाम वीरभद्र द्वारा सुनकर चन्द कवि का दुःख इसी प्रकरण के हैं परन्तु करुण का सबसे प्रधान स्थल सती होने वाला दृश्य है जो इतना शान्त और गम्भीर है कि हृदय पर एक वीतराग त्याग का प्रभाव डाले बिना नहीं रहता। मरण-महोत्सव की परम उल्लास और आतुरता से प्रतीक्षा करने वाले उस सामन्त युग में विशेष रूप से क्षत्राणियों में सती-प्रथा समादृत थी। उनके लिए अग्नि-पथ प्रेम-पथ का विधान था। वीर हिन्दू नारी का आत्मोल्लास से जलती हुई अग्नि-चिताओं में प्रवेश परम प्रशांत पर अति मर्म भेदी है। यह आत्मोत्सर्ग की पूर्ण आहुति स्वतन्त्र भारत की हिन्दू ललनाओं के चरित्र की विशेषता थी। स्वतन्त्रता की महान् देन रासो-काल में स्त्रियों के इस आदर्श बलिदान के रूप में सुदृढ़ थी। एक स्थल द्रष्टव्य होगा—

विविह तरुनि दिय दान । अवर सामन्त सूर भर ॥
अथ अस्स हय लीय । मिलिय रह हित्त धाम भर ॥
चित चिंतै रव रवनि । गवनि पावक प्रज्जारिय ॥
प्रेम प्रीति किय पेम । नेम गेमह प्रति पारिय ॥
उज्जलिय झाल आयास मिलि । हर हर सुर हर गोम भो ॥
जहँ जहाँ सुवास निज कंत किय । तहँ तहँ तिय पिय मिलन भो ॥

परिस्थिति विशेष में नव रसों के एक साथ उद्रेक कराने की सिद्धि भी रासोकार ने दिखाई है। भागवत और भक्ति काव्य की प्रेरणा कवि से कुशल चित्रण करा सकी है। कन्नौज-दरबार में छद्मवेशी पृथ्वीराज को पहचानकर सुन्दरी दासी कर्नाटकी ने लज्जा से घूँघट खींच लिया

परन्तु चंद के इशारे से तुरन्त ही उसे पलट दिया। इस घूँघट बन्द करने और खोलने के व्यापार-मात्र ने पंग-दरबार में नव रस उत्पन्न कर दिए :

वर अद्भुत कमधज्ज। हास चहुआन उपन्नौ ॥
करुना दिसि संभरी। चंद् वर रुद्र दिपन्नौ ॥
बीभछ्छ वीर कुमार। वीर वर सुभट विराजैं ॥
गोप बाल झंपतह। द्रिगन सिंगार सु राजैं ॥
संभयौ संत रस दिप्प वर। लोहा लंगरि वीर कौं ॥
मंगाइ पान पहुपंग वर। भय नव रस नव सीर कौं ॥

यहाँ उल्लेख अलंकार का चमत्कार भी जान लेना चाहिए।

अलंकार

अलंकार का प्रयोग भाव-सौन्दर्य की वृद्धि हेतु किया जाता है। शब्दालंकारों में रासो में अनुप्रास और यमक का प्रयोग बहुलता से पाया जाता है। अनुप्रासों के सभी शास्त्रीय भेदों के उदाहरण इस काव्य में मिल जाते हैं। उदाहरण देखिए :

(१) जंग जुरन जालिम जुझार भुज सार भार भुअ ॥
(२) चढ़ि कंध कमंधन जोगिनी। सद्द मद्द उनमद्द फिरि ॥
(३) त्रैनैनं त्रिजटेव सीस त्रितयं त्रैरूप त्रैसूलयं ॥

वाच्यार्थ विचित्रता से रिक्त शब्दाडम्बर-मात्र वाला वर्णानुप्रास भी कहीं-कहीं दृष्टिगोचर हो जाता है।

यमक का प्रयोग अनेक स्थलों पर है परन्तु संयम के साथ :

(१) सारंग रुकि सारंग हने। सारंग करनि करप्पि ॥
(२) धवल वृषभ चढ़ि धवल। धवल बंधे सु ब्रह्म वसि ॥

श्लेष वक्रोक्ति की चर्चा भावाभिव्यंजना के अन्तर्गत की जा चुकी है।

अर्थालंकारों के अन्तर्गत जहाँ कवि ने काव्य-परम्परा का ध्यान रखते हुए प्रसिद्ध उपमानों का प्रयोग किया है वहाँ अप्रचलित और अप्रसिद्ध उपमान भी उसने साहस के साथ रखे हैं। राजस्थान के कवियों में यह परम सराहनीय साहस पाया जाता है। रासोकार के अप्रचलित अप्रस्तुत कहीं क्लिष्ट होने के कारण और कहीं लोक में उतनी प्रसिद्धि न पाने के कारण अर्थ को सरल करने के प्रयास में उसे दुर्बोध भी कर बैठे हैं। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं :

(१) जर्यौ ससिफूल जर्यौ मनिबद्ध। उग्यौ गुरदेव किधौं निसि अद्ध ॥
(२) जगमगत कंठ सिरि कंठ केस। मनु अट्ठ ग्रह चंपि ससि सीस बैसि ॥
(३) ग्रह अट्ट सतारक पीत पगे। मनों सुतिके उर भान उगे ॥

परन्तु नवीन उपमान अपनी अर्थ-सुलभता और लोक-प्रसिद्धि के कारण अर्थ-गौरव की भी निःसन्देह वृद्धि कर सके हैं :

(१) मुष कड्ढिन घूँघट अस्सु चली। मनों घूँघट दै कुलवद्धु चली ॥
(२) यों मिले सब्ब परिगह नृपति। ज्यों जल झर बोहिथ्थ फटि ॥
(३) जनु छैलनि कुलटा मिलै। वसुत दिवस रस पंक ॥
(४) दिपंत मेन लग्गयं। जिहाज जोग भग्गयं ॥

कहीं-कहीं ग्रामीण प्रयोग भी मिलते हैं। यथा :

(१) सुर असुर मिलि जल फोरयं।

(२) साज सज्जि चल्यौ सु फुनि। जनु ऊलौ दरियाव ॥

उपमा के प्रयोगों द्वारा रासोकार ने अपना अभीष्ट सिद्ध करने में अपूर्व सफलता प्राप्त की है। एक निरवयवा-लुप्तधर्मा-मालोपमा देखिए :

इसौ कन्ह चहुआन । जिसौ भारथ्थ भीम वर ॥
इसौ कन्ह चहुआन। जिसौ द्रोनाचारिज वर ॥
इसौ कन्ह चहुआन । जिसौ दससीस बीस भुज ॥
इसौ कन्ह चहुआन। जिसौ अवतार धारि सुज ॥
जुध बेर इस्स तुट्टै जुरिन। सिंघ तुट्टि लपि सिवनिय ॥
प्रथिराज कुँवर साहाय कज। दुरजोधन अवतार लिय ॥

उपमा के बाद 'रासो' में रूपक का स्थान है। वैसे तो उसके सभी विभेद मिलते हैं परन्तु कवि को सांगरूपक सम्भवतः विशेष प्रिय था। इसके प्रयोग में उसे आशातीत सफलता भी प्राप्त हुई है :

(१) आसा महीव कव्वी। नव-नव कित्तीय संग्रहं ग्रंथं ॥
सागर सरिस तरंगी। बोहथ्थयं उक्तियं चलियं ॥

(२) काव्य समुद्र कवि चन्द कृत। मुगति समप्पन ज्ञान ॥
राजनीति बोहिथ सुफल। पार उतारन यान ॥

[अर्थात्—कवि के महान् आशा रूपी सागर में उत्ताल तरंगें उठ रही हैं जिसमें उक्ति रूपी बोहिथ (जहाज) चलाये गए हैं।

कवि चन्द कृत काव्य रूपी समुद्र, ज्ञान रूपी मोती समर्पित करने वाला है और राजनीति रूपी बोहिथ उस काव्य रूपी सागर से सफलतापूर्वक पार उतारने वाला यान है।]

समस्त वस्तु-विषय-सावयवों और एकदेश-विवर्ति-सावयवों की स्वाभाविक रंजना कवि के शास्त्र-ज्ञान की परिचायिका है। एक निरवयव रूपक भी देखिये :

चंद वदनि मृग नयनि। भौंह असित कोवंड बनि ॥
गंग भंग तरलति तरंग। बैंनी भुअंग बनि ॥
कीर नास अगु दिपति। दसन दामिक घरमकन ॥
छीन लंक श्रीफल अपीन। चंपक वरनं तन ॥
इच्छति भतार प्रथिराज तुहि। अहनिसि पूजत सिव सकति ॥
अध तेरह बरस पदंमिनी। हंस गमनि पिप्पहु नृपति ॥

उत्प्रेक्षाओं की रासो में भरमार है, परन्तु वे अत्यन्त सफल बन पड़ी हैं। रूप-शृङ्गार और युद्ध-वर्णन में वस्तूत्प्रेक्षाओं की प्रचुरता समझनी चाहिए। अप्रचलित और अप्रसिद्ध उपमानों का प्रयोग यहीं पर कवि ने जी खोलकर किया है। एक वाच्या-अनुक्त विषया-वस्तूत्प्रेक्षा देखिये :

छुटि मृगमद कै काम छुटि। छुटि सुगंध की बास ॥
तुङ्ग मनौ दो तन दियौ। कंचन पंभ प्रकास ॥

यहाँ स्वर्ण स्तम्भ को प्रकाशित करने वाले दो तुंगों की सम्भावना देखकर और उपमेय स्वरूप उरोजों का कथन न होने के कारण रूपकातिशयोक्ति का भ्रम न करना चाहिए।

प्रतीयमाना फलोत्प्रेक्षा और हेतूत्प्रेक्षा दोनों ही मिलती हैं। एक असिद्ध-विषया-हेतूत्प्रेक्षा लीजिये :

सम नहीं रुक्मिनी जोइ । छिन गमन छिन जथु होइ ॥
देषंत ओप सुरंग । तब भयौ काम अनंग ॥

यहाँ कवि का कथन है कि संयोगिता की सुन्दरता देखकर ही कामदेव अनंग हो गया परन्तु काम के अनंग होने की कथा शिव द्वारा भस्म किये जाने वाली है।

संयोगिता की रति और स्वेद-कणों को लेकर कवि ने शुक-मुख द्वारा मयंक और मन्मथ की उत्प्रेक्षा की है :

देषि वदन रति रहस । बुन्द कन स्वेद सुभ्भ भर ॥
चंद किरन मनमथ्थ । हथ्थ कुठ्ठे जनु गुघर ॥
सुकवि चंद वरदाय । कहिय उप्पम श्रुति चालह ॥
मनौं मयंक मनमथ्थ । चंद पुज्यौ मुत्ताहय ॥
कर किरनि रहसि रति रंग दुति । प्रफुलि कली फलि सुन्दरिय ॥
सुक कहै सुकिय इंछिनि सुनय । पै पंगानिय सुन्दरिय ॥

कन्नौज में गंगा-तट पर मछलियाँ चुनाते समय पृथ्वीराज ने संयोगवशात् समीपस्थ जयचन्द के प्रासाद के गवाक्ष पर अनन्य सुन्दरी राजकुमारी संयोगिता को देखा। भ्रमालंकार द्वारा कवि ने महाराज की भ्रांति का अपूर्व चित्रण किया है :

कुंजर उप्पर सिंह । सिंह उप्पर दोय पव्वय ॥
पव्वय उप्पर भ्रंग । भ्रंग उप्पर ससि सुभ्भय ॥
ससि उप्पर इक कीर । कीर उप्पर म्रग दिट्ठौ ॥
म्रग ऊपर कोवंड । संध कंद्रप्प वयट्ठौ ॥
अहि मयूर महि उप्परह । हीर सरिस हेम न जर्‌यौ ॥
सुर भुअन छंडि कविचंद कहि । तिहि धोषै राजन पर्‌यौ ॥

अतिशयोक्ति में रूपकातिशयोक्ति के प्रयोग का प्राधान्य है। कहीं वह स्वतन्त्र रूप में है और कहीं अन्य अलंकारों के साथ मिश्रित। एक स्थल देखिये :

अष्ट मंगलिक अष्ट सिध । नव निधि रत्न अपार ॥
पाटंवर अंमर वसन । दिवस न सुझ्झहिं तार ॥

दिन में सब वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं परन्तु ये वस्त्र इतने महीन हैं कि दिन में भी उनके तार नहीं दिखाई देते। वस्त्र की सूक्ष्मता उपमान है जिसके प्रतिपादन हेतु 'दिवस न सुझ्झहि तार' का प्रयोग करके भेदेप्यभेदः द्वारा बड़ी खूबी से रूपकातिशयोक्ति सिद्ध की गई है।

अप्रस्तुत के सर्वथा अभाव वर्णन वाले असम अलंकार का एक छन्द देखिए :

रूपं नहि कटाछ कूल तटयौ, भायं तरंगं वरं।
हावं भावति मीन प्रासित गुनं, सिद्धं मनं मजनी ॥

सोयं जोग तरंग रूवति यरं, त्रीलोक्य ना ता समा।
सोयं साहि सहाय दीन ग्रहियं, अनंग क्रीड़ा रसं॥

इसमें सांगरूपक के मिश्रण की स्थिति भी समझ लेनी चाहिए।

इनके अतिरिक्त उदाहरण, दृष्टान्त, प्रतीप, आवृत्ति, दीपक, सन्देह, सार, स्वभावोक्ति और अर्थान्तरन्यास के भी सुन्दर निरूपण मिलते हैं। वैसे-रासो जैसे विशाल काव्य-ग्रन्थ में प्रयत्न करने पर सभी अलंकारों के उदाहरण मिलना असम्भव नहीं है। इन विभिन्न शैलियों के माध्यम से कवि ने अपनी रस-निष्पत्ति में यथेष्ट सहायता ली है। रस और अलंकार की सफल योजना को ही यह श्रेय है कि रासो के अनेक अंश मार्मिक, प्रभावशाली और मनोहर हो सके हैं।

छन्द

काव्य-शास्त्रियों का छन्दों पर यह अनुशासन नहीं है कि अमुक प्रकार के काव्य या अमुक रस में अमुक छन्द का ही प्रयोग होना चाहिए। फिर भी प्रबन्ध के लिए अवधी में जायसी और तुलसी की दोहा पद्धति तथा वीर-रस के लिए पृथ्वीराज रासो की छप्पय पद्धति ने पर्याप्त ख्याति पाई।

रासो में ६८ प्रकार के छन्द पाये जाते हैं जो उसका आकार देखते हुए अनुचित नहीं है। उनमें अधिक संख्या प्राकृत अपभ्रंशकालीन मात्रा वृत्तों की है। अनेक छन्दों के नाम नवीन अवश्य हैं और परवर्ती हिन्दी-साहित्य में सूदन और जोधराज को कुछ अंशों में छोड़कर उनका प्रयोग अपवाद है, फिर भी उनके रूप और लक्षणों का निर्धारण पिंगल छन्दः सूत्रम्, गाथा लक्षणम्, वृत्तजाति-समुच्चयः श्रीस्वयम्भूः छन्दः, कवि दर्पणम्, प्राकृत पिंगलम्, छन्दः कोशः, वृत्त रत्नाकर, छन्दार्णव पिंगल, छन्दः प्रभाकर प्रभृति संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी के छन्द-ग्रन्थों की सहायता से किया जा चुका है। 'रासो' का छन्द-प्रकरण अपनी एक पृथक् समस्या है, उसके विषय में इस स्थल पर इतना मात्र कथन यथेष्ट होगा कि अभिव्यंजना के विचार से रासोकार ने अपने छन्दों का चुनाव अत्यन्त दूरदर्शिता से किया है।



२

डॉक्टर सत्येन्द्र

सूरसागर

सूर की रचना—'सूरसागर' सूरदास की रचना है। यही सूरदासजी की ऐसी रचना है, जिसके सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं, जिसे सभी सूरदास की प्रामाणिक रचना स्वीकार करते हैं।[1]

सूरसागर का स्वरूप—वार्ता में 'सूरसागर' शब्द का प्रयोग किसी ग्रन्थ के लिए नहीं हुआ, वरन् सूरदास जी के लिए हुआ है।[2] सूरदास स्वयं 'सागर' थे, उनके पदों का संग्रह भी सागर कहलाया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। 'सूरसागर' के पदों के सम्बन्ध में मतभेद है। सूरदास जी सम्बन्धी 'वार्ता' में यह उल्लेख है कि उन्होंने 'सहस्रावधि' पद लिखे। इसी के उपरान्त श्री हरिराम जी द्वारा सम्पादित 'वार्ता' में एक प्रसंग यों है—

"सो तब सूरदास जी मन में विचारे जो—मैं तो अपने मन में सवा लाख कीर्तन प्रकट करिवे को संकल्प कियो है सो तामें ते लाख कीर्तन तो प्रकट भये हैं। सो भगवद् इच्छा तें पच्चीस हजार कीर्तन और प्रकट करने।..........

........याही समय श्री गोवर्द्धनाथ जी आयु प्रकट होय के दरशन दे के कह्यो जो—सूरदास जी! तुमने जो सवा लाख कीर्तन को मन में मनोरथ कियो है, सो तो पूरन होय चुक्यौ है, जो पच्चीस हजार कीर्तन मैंने पूरन करि दिये हैं।"[3] ये पच्चीस हजार कीर्तन 'सूरस्याम' की छाप से युक्त थे।

सूरदास के अन्तर्साक्ष्य से पदों की संख्या निर्धारित करने के लिए सूरसारावली के पद एक की ये पंक्तियाँ दी जाती हैं:

श्रीवल्लभ गुरु तत्त्व सुनायौ लीला भेद बतायौ,

---

१ डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा ने लिखा है "गत पृष्ठों की विवेचना के फलस्वरूप सूरदास की केवल एक प्रामाणिक रचना, सूरसागर रह जाती है। इस रचना की सूचना वार्ता से भी मिलती है।"—सूरदास, पृ० ६७।

डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा के अतिरिक्त शेष सभी लेखक तथा विद्वान 'सूरसागर' के अतिरिक्त कुछ अन्य रचनाओं को भी सूरदास-कृत मानते हैं।

२ "और सूरदास को जब श्री आचार्य जी देखते तब कहते जो—आवो सूरसागर! सो ताको आशय यह है, जो—समुद्र में सगरो पदार्थ होत है। तैसे ही सूरदास ने सहस्रावधि पद किये हैं। तामें ज्ञान वैराग्य के न्यारे-न्यारे भक्ति भेद, अनेक भगवत अवतार सो तिन सबन की लीला को वरनन कियो है।—'प्राचीन वार्त्ता रहस्य' तृतीय भाग पृष्ठ २२

३ 'प्राचीन वार्त्ता रहस्य' द्वितीय भाग, पृष्ठ ४६।

ता दिन तें हरि लीला गाई एक लक्ष पद वन्द ।
ताकौ सार 'सूर' सारावलि भावत अति आनन्द ॥

इन कथनों से यह विदित होता है कि सूरदास ने सहस्रावधि अथवा सवा लाख अथवा एक लाख पद रचे । वार्ता के प्रसंग से एक बात तो यह स्पष्ट विदित होती है कि इस वार्ता के प्रचलित होते समय तक सूरदास जी के पदों की संख्या तो सवालाख मानी जाने लगी थी पर उसमें 'पच्चीस हजार' पद ऐसे थे जो सूरदास के नहीं थे । हो सकता है यह बात पदों में 'सूर-स्याम' छाप की व्याख्या करने के लिए प्रस्तुत की गई हो । किन्तु साधारणतः तो यही अनुमान होता है कि सूरदास के पदों में किसी अन्य के रचित पद भी सम्मिलित हो चुके थे । इसकी पुष्टि इसी वार्ता के एक अन्य प्रसंग से होती है :

> "पाछें देशाधिपति ने आगरे में आयके सूरदास के पदन की तलाश कीनी । जो कोऊ सूरदास जी के पद लावे तिनकूँ रुपैया और मोहोर देय । सो वे पद फारसी में लिखायकें बाँचै । सो मोहोर के लालच सो पण्डित कवीश्वरहू सूरदास के पद बनाय के लायें ।"[1]

सूरदास के लाख-सवा लाख पदों की गणना में सम्भवतः ऐसे भी अन्य कवियों द्वारा रचे जाली पद भी सम्मिलित हो गए होंगे । पर इतना होने पर अभी तक जो पद सूरदास-कृत पाये गए हैं, वे सब ८-१० हजार से अधिक नहीं हैं ।

सूरदास की रचनाओं का संग्रह अकबर के समय में ही होने लगा था । अभी तक प्राप्त सूर के संग्रहों में सबसे प्राचीन ग्रन्थ सं० १६६७ का लिखा हुआ है ।[2] यह प्रति राठौर वंश की मेड़तिया शाखा के महाराज किशनदास के पठनार्थ लिखी गई थी ।[3] किन्तु अभी तक ऐसा कोई भी संग्रह उपलब्ध नहीं हुआ है । जिसमें सूर के समस्त पद सम्मिलित हों । प्रकाशित और प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थों में तो उनके रचित पद हैं ही, पर उनके बहुत से पद तो वल्लभ-सम्प्रदाय के कीर्तनों में ऐसे मिलते हैं, जो कहीं भी सम्मिलित नहीं हैं । अतः यह सम्भव नहीं कि सूरदास द्वारा रचित पदों की ठीक संख्या बताई जा सके । इस दिशा में अभी खोज चल रही है और चलती रहनी चाहिए । वल्लभ-सम्प्रदाय के कीर्तनादि में मिलने वाले भी समस्त पदों का संग्रह होना चाहिए । जहाँ तक सूरदास के पद-निर्माण की सामर्थ्य का प्रश्न है यह कहा जाता रहा है कि वे कभी पुराना पद गाते ही नहीं थे । इस प्रकार 'सूर-निर्णय' के लेखकों ने हिसाब लगाकर यह निष्कर्ष निकाला है :

> "यदि इन पदों को पूर्व संख्या में जोड़ा जाय तो सूरदास द्वारा रचे हुए लाख सवा लाख पदों की बात प्रमाणित हो जाती है । हमने सूरदास के पदों की जो आनुमानिक गणना की है, वह कम-से-कम है और प्रामाणिक आधार पर है, अतः उसमें शंका के लिए कोई स्थान नहीं है ।"[4]

---

१. वही पृष्ठ सं० २७ । भावप्रकाश वाला यह वार्ता-प्रसंग सं० १७२८ से १७७२ में हरिराय द्वारा लिपिबद्ध किया गया होगा । 'द्रे० सूर-निर्णय' पृष्ठ २३ अतः अठारहवीं शताब्दी तक के प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि सूरदास की मौलिक रचनाओं में प्रक्षिप्त पद मिल गए थे ।

२. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (प्रथम भाग) पृष्ठ १४८ ।

३. वही पृष्ठ ग । ४. सूर-निर्णय, पृष्ठ ५७४ ।

१.	उनकी ये संख्या इस प्रकार है—१८ वर्ष से ३१ वर्ष की आयु तक वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व—	४५०० पद (प्रतिदिन एक)
२.	श्रीनाथ कीर्तन में आठ पहर के आठ गीत प्रतिदिन—प्रतिवर्ष २८८० पद आधे पद कुम्भनदास के निकाल दें तो १४४० वर्ष में, अतः १५६७ से १५७७ तक ११ वर्ष में—	१५८४० पद
३.	परमानन्ददास के कीर्तनियाँ नियुक्त होने पर सूरदास के वार्षिक पद एक तिहाई २६६०, कम-से-कम ९०० सं० १५७७ से १६०२ (अष्टछाप स्थापना का संवत्) तक २५ वर्ष—	२२५०० पद
४.	अष्टछाप की स्थापना के उपरांत वार्षिक संख्या का ⅑ सूर ने रचा होगा—२३६० पद अतः १६०२ से १६४० तक—३९ वर्ष—	१४०४० पद
५.	सं० १६०२ से विट्ठलनाथ जी ने अनेकों वर्षोत्सव बढ़ाये—समस्त उत्सवों के दिनों का परिमाण ९ मास, इसके २७० पद—३९ वर्ष के उत्सवों के पद—	१०५३० पद
६.	शयनोत्तर दीनता आश्रय के पद—ये महाप्रभु के समय से ही—७३ वर्ष के ये पद—	२६२८० पद
७.	लीला सिद्धान्त आदि के अन्य पद और जोड़ें तो लाख-सवा लाख तक संख्या पहुँचेगी ।[1]—	६३३५० पद

सूर-सागर का विषय—सूर-सागर सूर के मानस-रत्नों का सागर है, किन्तु उसका भी एक आधार रहा है। वह आधार मुख्यतः 'भागवत' है, स्वयं 'सूर' ने कई स्थानों पर स्पष्ट स्वीकार किया है—उदाहरणार्थ स्कंध १, पद २२५ में यह स्वीकृति है :

व्यास कहे सुकदेव सौं द्वादस स्कंध बनाइ ।
सूरदास सोई कहे पद भाषा करि गाइ ॥

फिर भी 'भागवत' और 'सूर-सागर' की तुलना से यही विदित होता है—

"सूर सागर के द्वादश स्कन्धों की भागवत के द्वादश स्कन्धों से वस्तुतः आकार में ही विषमता नहीं है अनुमान में भी उनमें कोई समानता नहीं दिखाई देती। कथा-वस्तु के विवेचन से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि किसी अर्थ में सूर-सागर भागवत का अनुवाद नहीं कहा जा सकता और न सम्पूर्ण भागवत की यथातथ्य कथा कहना ही कवि का उद्देश्य जान पड़ता है।"[2]

अतः विषय की दृष्टि से 'सूर-सागर' के तीन विभाग किये जा सकते हैं—

१. विनयादि

२. भागवतादि के आधार पर अन्य पौराणिक कथाओं का स्वतन्त्र वर्णन।

३. कृष्णलीला—इस कृष्णलीला में ही कवि ने 'भागवत' से स्वतन्त्र कई नई उद्भावनाएँ की हैं—जैसे—"राधाकृष्ण-मिलन, पनघट का प्रस्ताव, दान-लीला, खण्डिता समय,

---

१. 'सूर-निर्णय' पृष्ठ १७०—१७२

२. सूरदास : व्रजेश्वर वर्मा-कृत—पृ० १०३-१०४।

मान लीला, वसन्त और फाग का हिंडोल लीला।"[1] अनय भक्ति की प्रधानता, राधा का महत्त्व, गोपिकाओं का स्वरूप भी सूर ने अपनी प्रतिभा से नये रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें सन्देह नहीं है कि इस कवि का मुख्य लक्ष्य सूर-सागर में 'कृष्णलीला वर्णन' है। यही दशम स्कन्ध का विषय है।

'सूर-सागर' के विषय का विस्तृत परिचय 'सूर-सौरभ' के आधार पर संक्षिप्त करके दिया जा सकता है।[2] वह इस प्रकार है :

प्रथम स्कन्ध—इसमें भक्ति की सरस व्याख्या उपलब्ध होती है।

प्रथम स्कन्ध में विनय एवं भक्ति के पदों की ही प्रधानता है।

विनय और भक्ति-सम्बन्धी पदों के अतिरिक्त इस स्कन्ध में श्री मद्भागवत के निर्माण का प्रयोजन, शुकदेव की उत्पत्ति, व्यास अवतार महाभारत की कथा संक्षिप्त परिचय, सूत शौनक संवाद भीष्म की प्रतिज्ञा, भीष्म का देह-त्याग, श्री कृष्ण-द्वारिका-गमन, युधिष्ठिर का वैराग्य, पाण्डवों का हिमालय-गमन, परीक्षित का जन्म, ऋषि का शाप, कलियुग को दण्ड देना आदि प्रसंगों का भी भागवत के प्रथम स्कन्ध के अनुसार वर्णन है।

द्वितीय स्कन्ध—श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध की कथा के अनुसार इसमें भी सृष्टि की उत्पत्ति, विराट पुरुष, चौबीस अवतार, ब्रह्मा की उत्पत्ति, चार श्लोक आदि का वर्णन है। इसके अतिरिक्त इस स्कन्ध के प्रारम्भ में भक्ति-महिमा, सत्संग महिमा, भक्ति-साधन, आत्म-ज्ञान तथा भगवान् की विराट रूप में आरती का वर्णन है।

तृतीय स्कन्ध—जिनमें भागवत के तृतीय स्कन्ध के अनुसार उद्धव-विदुर-सम्वाद, विदुर को मैत्रेय से भगवान् के बताये हुए ज्ञान की प्राप्ति, सप्तर्षि और चार मनुष्यों की उत्पत्ति, देवासुर जन्म बारह अवतार, कर्दमदेवबहूति का विवाह, कपिल मुनि का अवतार, देवहूति का कपिल से भक्ति सम्बन्धी प्रश्न, भक्ति-महिमा और देवहूति की हरि-पद-प्राप्ति आदि कथाओं का वर्णन है।

चतुर्थ स्कन्ध—यज्ञ पुरुष अवतार पार्वती विवाह ध्रुव कथा, पृथु अवतार तथा पुरंजन आख्यान का वर्णन पाया जाता है।

पंचम स्कन्ध—में ऋषभदेव अवतार, जड़ भरत की कथा तथा उनका रहूगणों के साथ सम्वाद वर्णित हुआ है।

षष्ठ स्कन्ध—में भागवत के आधार पर अजामिल-उद्धार की कथा, इन्द्रा द्वारा बृहस्पति का अवतार, वृत्रासुर का वध, इन्द्र का सिंहासन से च्युत होना, गुरु की महिमा तथा गुरु कृपा से इन्द्र को पुनः सिंहासन की प्राप्ति आदि का वर्णन है।

सप्तम स्कन्ध—में भागवत के आधार पर नृसिंह अवतार का वर्णन किया गया है। परन्तु श्री भगवान् द्वारा शिव की सहायता और नारद की उत्पत्ति की कथाएं भागवत के इस स्कन्ध में नहीं मिलतीं।

अष्टम स्कन्ध—से गजेन्द्र मोक्ष, कूर्मावतार, समुद्र मंथन, विष्णु का मोहिनी रूप धारण, वामनावतार तथा मत्स्यावतार का वर्णन है।

---

१. सूरदास : ब्रजेश्वर वर्मा पृष्ठ १०६

२. सूर-सौरभ : प्रो० मुन्शीराम शर्मा सोमकृत पृष्ठ १४-२० (तृतीय भाग)

नवम स्कन्ध—में श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध की कथाओं के आधार पर राजा पुरुरवा और उर्वशी का उपाख्यान, च्यवन ऋषि की कथा, हलधर-विवाह, राजा अम्बरीष और सौभरि ऋषि के उपाख्यान, भागीरथ द्वारा गंगा का भूलोक में आगमन, परशुराम-अवतार तथा श्री रामावतार का वर्णन किया गया है। सूर-सागर के इस स्कन्ध में गौतम ऋषि का तथा इन्द्र को शाप देने का भी वर्णन है जो भागवत के नवम स्कन्ध में नहीं है। सूर को भगवान् कृष्ण का रूप अधिक प्रिय है। वैसे ही जैसे तुलसी को राम का। पर सूर ने राम-चरित का भी हृदय-हारी चरित्र-चित्रण किया है। राम के बाल-रूप-वर्णन में तो, अपनी प्रकृति के अनुकूल, वे तल्लीन हो गए हैं, सीता का विरह-वर्णन भी अद्वितीय है।

दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध—सूर की समस्त कीर्ति का आधार यही स्कन्ध है। सूर के काव्य की कोमलता, कमनीयता और कला, भगवद्भक्ति, भावुकता और मधुरता, पैनापन, विनोद, व्यंग, और विदग्धता सबका स्रोत यहीं तो है, जहाँ से यह भिन्न-भिन्न भाव-धाराएँ फूट-फूटकर सूर-सागर में समाविष्ट होती हैं और उसके नाम को चरितार्थ करती हैं। इस स्कन्ध के पदों की संख्या अन्य सब स्कन्धों के पदों की सम्मिलित संख्या के पाँच गुने से भी अधिक है। भागवत में भी यही स्कन्ध सबसे बड़ा है। इसमें भगवान् कृष्ण की जन्म-लीला, मथुरा से गोकुल आना, छठी, पूतना-वध, शकटासुर और तृणावर्त का वध, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगाँठ, कर्ण-छेदन, घुटनों के बल चलना, बाल-वेश, चन्द्र-प्रस्ताव, कलेवा, माटी खाना, माखन-चोरी, गो-दोहन, वत्स-बक-अघासुर वध, ब्रह्मा द्वारा गोवत्स-हरण, राधाकृष्ण का प्रथम मिलाप, क्रीड़ा राधा का श्याम के घर जाना, श्याम का राधा के घर जाना, गो-चारण, धेनुक-वध, कालिय-दमन, दावानल-पान, प्रलम्ब-वध, मुरली चीर हरण, पनघट, गोवर्धन-पूजा, दान-लीला, नेत्र-वर्णन, रास-लीला, राधाकृष्ण का विवाह, मान-लीला, हिंडोल-लीला, वृषभ-केशी-भौमासुर-वध, होरी-लीला, श्रीकृष्ण का अक्रूर के साथ मथुरा जाना, मुष्टिक चाणूर-वध, कंस-वध, उग्रसेन को सिंहासनासीन करना, वसुदेव-देवकी के दर्शन करना, यज्ञोपवीत, कृष्ण का कुब्जा के घर जाना आदि अतीव मनोहर और हृदयाकर्षक प्रसंगों के वर्णन में जितनी रुचि रमी है उतनी अन्यत्र नहीं। प्रेम ही सूर का प्रधान क्षेत्र था, और उसके सभी रूपों का जितना विस्तृत और वरिष्ठ वर्णन सूर-सागर में है उतना और कहीं नहीं।

दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध—दशम स्कन्ध के उत्तरार्द्ध में जरासंध से युद्ध, द्वारिका-निर्माण, कालयवन-दहन, मुचकुन्द का उद्धार, द्वारिका-प्रवेश, रुक्मिणी-हरण, प्रद्युम्न-विवाह, ऊषा-अनिरुद्ध-विवाह, नृगराज का उद्धार, बलराम का ब्रज-गमन, सांब-विवाह, कृष्ण का हस्तिनापुर जाना, जरासंघ-वध, शिशुपाल-वध, शाल्व का द्वारिका पर आक्रमण, शाल्व-वध, दन्त-वक्र और बल्वल का वध, सुदामा-दारिद्रय-भंजन, कुरुक्षेत्र में आगमन और नन्द-यशोदा तथा गोपियों से मिलना, वेद-स्तुति, नारद-स्तुति, सुभद्रा-अर्जुन का विवाह, भस्मासुर-वध, भृगु-परीक्षा आदि विषयों का वर्णन है, जो भागवत के ही अनुसार है।

एकादश स्कन्ध—इसमें श्रीकृष्ण का उद्धव को बदरिकाश्रम भेजने, नारायणावतार तथा हंसावतार का वर्णन है।

द्वादश स्कन्ध—इसमें बौद्धावतार, कल्कि-अवतार तथा राजा परीक्षित और जनमेजय की कथाएँ हैं। अवतारों का वर्णन भागवत के एकादश स्कन्ध के अनुसार है।

सूर-सागर के काव्य की पृष्ठभूमि—सूरदास का जन्म वैशाख शुक्ल ५ मंगलवार संवत्

१५३५ में हुआ, सन् १४७८ ई० में। मृत्यु सं० १६४० के लगभग हुई[1] सन्, १५८३ ई० में। १०५ वर्ष इस काल में भारतीय इतिहास की एक शताब्दी व्यतीत हुई और एक नहीं कई परिवर्तन इस काल में हमें दिखाई पड़ते हैं — सूरदास का समय अकबर के राज्य-काल तक आता है उससे पूर्व की एक शताब्दी बहुत धार्मिक हलचलों और ऐतिहासिक उथल-पुथलों की थी। समस्त युग सामन्तवादी था। छोटे-छोटे राज्य छोटे-छोटे सामन्त। प्रत्येक राज्य और प्रत्येक सामन्त की अपनी अलग आन-बान-शान। इनमें परस्पर भी युद्ध होते थे, और अब तक—अकबर से पूर्व तक विदेशी माने जाने वाले दिल्ली के मुसलमानी शासकों से भी युद्ध होते थे। छुट-पुट मुसलमानी राज्य दक्षिण में भी स्थापित हो गए थे। इनमें भी इस युग की सामन्तवादिनी भावना थी। दिल्ली की केन्द्रीय-शक्ति मुसलमानी-शासन-स्थापन होने के बाद एक बादशाह के बाद दूसरे के हाथों में प्रायः इतनी जल्दी-जल्दी गई थी, और राजकीय लड़ाइयाँ जहाँ-तहाँ आए दिन इतनी अधिक होती रहती थीं कि साधारण जन न तो उनमें रस ही पाता था, न बल। राजा-बादशाहों के लिए भी यह उचित हो था कि वे प्रजा को पीड़ित न करें—आए दिन यदि प्रजा का विनाश होगा तो राजा के हाथ क्या लगेगा। फलतः प्रजा को भी युद्धों से वैराग्य था, युद्धों से नहीं राजनीति से भी। वे अपने कार्य में व्यस्त रहते, जो भी राजा होता उसे कर देकर अपनी शान्ति वे खरीदते रहे। इस काल की राजनीति-विषयक साधारण जन की भावना वही थी जो मन्थरा ने विरक्त होकर कैकेयी के समक्ष प्रकट की थी :

कोउ नृप होउ हमहिं का हानी।
चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी॥

राजनीति से विरक्त जनता अपने व्यवहारों में ही मग्न नहीं होती गई, अपने व्यसनों में भी डूबी। व्यसन था धर्म, और यह व्यसन इस युग में जीवन और व्यवहार का मुख्याधार बन गया था। राज्य और राजनीति से विरक्त मन के लिए ही धर्म आधार नहीं था, वह तो राज्य और राजनीति से भी गहराई के साथ चिपक गया था। राज्य और राजनीति से चिपके इसी धर्म का अत्याचार प्रजा और जनता को भोगना पड़ता रहा था, और इस धार्मिक अत्याचार का कोई-न कोई प्रभाव सूरदास जी ने भी अनुभव किया ही होगा। यदि इस युग की राजनीति और राज्य धर्म के आवरण से युक्त न होते तो इस काल का ही नहीं, भारत के ही इतिहास का रूप कुछ भिन्न होता, किन्तु ऐसा नहीं हो सका। इसी कारण साधारण जन राजनीति से विरक्त ही नहीं हुआ, विमुख भी हो चला। 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' का नारा बुलन्द भी हुआ, पर वह जम नहीं सका। इसी कारण साधारण जन को अपनी अभाव-पूर्ति के लिए अपनी राज्य-भक्ति की भावना की तुष्टि के लिए अपने मनोनुकूल राजा की आवश्यकता प्रतीत हुई—

> भारतीय प्रजा क्या चाहती थी—वह चाहती अपने लिए राजा, क्योंकि वह राजा में विश्वास करती थी, राजतन्त्र में पली थी, राजतन्त्र का वह युग था।
>
> ऐसा राजा जो उनका प्रतिपालन करे—राजा की सत्ता का इस युग में यही तो प्रधान धर्म था।
>
> ऐसा राजा, जो उन्हें कल्याण का मार्ग बताय—अन्यथा विदेशी मुसलमान शासक भी राजा थे ही, उन्हें यह भी राज्य-भक्ति प्रदान करता।

---

१. सूर-निर्णय पृष्ठ १०४।

ऐसा राजा, जिसका पार्थिव वैभव भी महान् हो—राज-कोष का सत्ता के वैभव से इस सामन्तवादी युग में गठ-जोड़ा था।

ऐसा राजा, जो धर्म की धुरी को भी धारण करने वाला हो, क्योंकि मुसलमानी शासन ने धर्म और राजा को मिला दिया था।

ऐसा राजा, जो भगवान् का अंश ही न हो, उनका अवतार ही हो—राजा में भगवान् अंश होता है यह तो भारत में बद्धमूल धारणा थी ही, किन्तु इस धारणा से तो वे मुसलमान-शासक को भी अपनी भेंट देते ही थे, पर भगवान् के उस अंश पर अश्रद्धा जो हो रही थी तो भगवान् का अवतार ही उनकी तुष्टि कर सकता था।

राजा ऐसा भी हो जो उनका गुरु हो सके—इस युग में सन्त मत के द्वारा गुरु का महत्त्व बहुत बढ़ा हुआ था—'निगुरा' व्यक्ति हीन दृष्टि से देखा जाता था। कबीर को भी इसी भावना के आगे हारकर गुरु करना पड़ा था।

महाप्रभु वल्लभाचार्य की प्रतिभा ने और गोसाईं विट्ठलनाथ की व्यावहारिक बुद्धि ने इन समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति का एक मूर्त रूप 'पुष्टिमार्ग' में खड़ा कर दिया—

महाप्रभु और गोसाईं तथा उनके पुत्र भगवान के अवतार ही नहीं स्वयं भगवान् हुए।[1] इनके द्वारा त्रिविध भगवान् का सम्बन्ध प्रस्तुत हुआ—

१ मूल भगवान्—स्वयं कृष्ण
२ विग्रह भगवान्—कृष्ण जी की विविध मूर्तियाँ
३ गुरु भगवान्—वल्लभाचार्य जी तथा गोसाईं जी[2]

---

१. हरि गुण एक रूप नृप जान—सूरदास। विट्ठलनाथजी के जन्म के समय सूरदास ने यह पद गाया—

श्री वल्लभ दीजै मोहि बधाई।
श्री लछमन सुत द्विज के राजा, कीजै कहा बड़ाई,
बहुरि कृष्ण अवतार लियौ है, सदन तुम्हारे आई।
कोटि-कोटि कलि जीव उद्धारन, प्रगटे श्री जदुराई,
चिरजीवौ अक्काजी कौ सुत; श्री विट्ठल सुखदाई।
गिरिधरलाल कौ ढाढी कहावैं, 'सूरदास' बलि जाई।

२. सूरदास ने सेवा-विधि का उल्लेख जिस पद में किया है, उसमें इस एकसूत्रता का स्पष्ट आभास है—

भजो गोपाल भूलि जिन जीवौ,
मनुषा देह कौ यहि है लहावौ।
गुरु-सेवा करि भक्ति कमाई···
उठिकै प्रात गुरन सिर नावैं
प्रात समै श्रीकृष्ण ही ध्यावैं··
जो ठाकुर को करे प्रनाम···
सेवा की यह अद्भुत रीति
श्री विट्ठलेश सों राखै प्रीति····आदि।

इनमें राज्य-वैभव की प्रतिष्टा भी बड़ी युक्ति से की गई। भगवान् के विग्रह को 'ठाकुर' कहा गया। 'ठाकुर' इस युग में राजा के लिए ही प्रयोग में आता था। सूरदास जी ने भगवान् को ठाकुर बताकर उनके राज्य-शासन का ही उल्लेख रूपक से किया है।[1] वल्लभाचार्य तथा गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने ठाकुर जी की सेवा के विधान में पूर्ण राजसी वैभव का समावेश किया। ठाकुर जी के विविध वर्णन राजसिक वैभव और ऐश्वर्य को प्रकट करते हैं। मणि, मोती, हीरा, मूँग, स्वर्ण से कम का उल्लेख तो हुआ ही नहीं। और यह वर्णन काल्पनिक नहीं यथार्थ था, क्योंकि वल्लभ-सम्प्रदायों के मन्दिरों में वह उपलब्ध था।

इस विधि के राजनीतिक राज्य-विधान के अन्तर्गत एक धार्मिक राज्य-विधान इस युग में खड़ा हो गया। धार्मिक और स्वेच्छा पर निर्भर करने वाला होकर यह मन में गहरा प्रभाव प्रस्तुत करने वाला था—इसी ने भक्तजनों को 'तन मन धन सब गुसाईं जी के अर्पण' करने को बाध्य किया।

सूर-सागर का विश्लेषण—इस पृष्ठभूमि पर सूर-सागर बना और इस सबकी झिलमिलाहट सूर-सागर में विद्यमान मिलती है : सूर-सागर के काव्य के विश्लेषण से हमें उसमें तीन तत्त्व मिलते हैं—

१—पुराण-कथा, २—वर्णन-वैभव, ३—भाव-सम्पति

इसमें 'पुराण-कथा' तो भागवत के अनुसार है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, अतः उसका सम्बन्ध मुख्यतः मूल कृष्ण से है। वह कृष्ण जो परम तत्त्व हैं और जिनके अवतार वल्लभ और विट्ठल हैं। पर उसमें जो वर्णन-विस्तार, विशदता और राजसिकता हैं, वह मन्दिरों और आचार्य गुरुओं के वैभव के आधार पर हैं। भगवान् के रूप की और शृङ्गार की कल्पना में पौराणिक शृङ्गार के बीज के साथ विस्तार उस शृङ्गार का है जो प्रतिदिन मन्दिर में ठाकुरजी का किया जाता था। वार्ता में स्पष्ट है कि सूरदासजी अपने कीर्तनों में जैसा शृङ्गार ठाकुरजी का होता था, वैसा ही वर्णन करते थे।[2] इस कथा और वर्णन-वैभव के साथ 'भाव-सम्पत्ति का बड़ा मनोरम समागम है। यह भाव-सम्पति आचार्य और गोसाइंयों के प्रति भक्ति की प्रेरणा से प्रभावित थी। स्वयं सूरदास ने अपनी भाव-सम्पत्ति की कुञ्जी एक पद में दी है, उसकी पुष्टि और व्याख्या 'वार्ता' से भी होती है कि सूरदास की रचना का मूल मर्म महाप्रभु वल्लभाचार्य की भक्ति ही थी।[3] यह व्यक्तिगत धरातल पर इतनी गहरी थी कि सूर की कृष्ण-लीला के मौलिक वर्णनों

---

१. यथा-हरि सौं ठाकुर और न जन कौ।

तथा

हरि के जन की अति ठकुराई। आदि

२. देखिए प्राचीन वार्ता रहस्य में सूरदास की वार्ता का 'वार्ता प्रसंग ६' "ये तीनों भाई कहे जो—ये सूरदास जी, जैसा शृङ्गार नवनीत-प्रिया जी को होत हैं, तैसे ही वस्त्र-आभूषण वरणन करत हैं।—पृ० ३०

३. वार्ता प्रसंग यों है—"सो ता समय सगरे वैष्णव श्री गुसाईं जी के पास ठाढ़े हते। उनमें से चत्रभुजदास ने कह्यौ जो—सूरदास जी परम भगवदीय हैं, और सूरदास जी ने श्री ठाकुर जी के सहस्रावधि पद किये हैं, परन्तु सूरदास जी ने श्री आचार्य जी महाप्रभुन को जस बरनन नांही कियो।

[illegible] हुए हैं। इन भावों की क्रमशः स्थिति उपर्युक्त [illegible] वात्सल्य, [illegible]। 'वात्सल्य' में [illegible] के साथ [illegible] के मानसिक विकास का [illegible] होता है। [illegible] में ही गोपियों के प्रेम का [illegible] होता है। [illegible] गोपी-कृष्ण-प्रेम [illegible] तल पर है : गोपियाँ कृष्ण को चाहती हैं, कृष्ण गोपियों [illegible] करते हैं, [illegible] हैं। [illegible] प्रेम [illegible] के प्रेम से भिन्न प्रतीत होता है। यह प्रेम कुछ [illegible] और गोपियों के प्रेम की पृष्ठभूमि पर ही राधा-कृष्ण के प्रेम की [illegible] है। इसकी [illegible] रास में होती है, तभी 'वियोग' हो जाता है, इस वियोग का [illegible] 'भ्रमर-गीत' में होता है। वात्सल्य में भावतन्मयता है, कृष्ण की बाल-लीलाओं के [illegible] के साथ। संयोग में भाव-माधुर्य है तथा मनोरम और प्रफुल्लित जीवन के राग-रंगों और [illegible] इस संयोग में विशेष स्थान है। इन सबमें भाव का ही अस्तित्व प्रधान है इस काव्य की लीलाओं में किसी का भी [illegible] यथार्थ नहीं, क्योंकि यथार्थ के संकेत में अलौकिक [illegible] में आलोकित है जिसमें मधु और माधुर्य है—जिसमें गोपी-कृष्ण और राधा-कृष्ण दोनों ही मचलते हैं—तब वियोग में यह भाव-मुग्धता तो कम हो जाती है, बौद्धिक पक्ष प्रबल हो उठता है। बौद्धिक होकर गोपियाँ अपने प्रेम-उन्माद के लिए युक्तियों तथा तर्कों का भी सहारा लेती हैं।

सूर-सागर का काव्य—इस विश्लेषण से सूर के काव्य के तन्तुओं का परिचय मिल जाता है। किन्तु सूर का काव्य इन तन्तुओं से निर्मित होते हुए भी, इन्हीं में नहीं है। इन तन्तुओं से जो मानव-कल्याण की महत् भावना अभिमण्डित किये हुए है, वह न समय की परिधि से घिरी हुई है, न सम्प्रदाय की सीमाओं से। मानव में उसके शारीरिक सौन्दर्य की पूर्ण प्रतिष्ठा के साथ मानसिक मुग्धता अवतीर्ण करते हुए आध्यात्मिक उपलब्धि इस काव्य के द्वारा सम्पन्न होती है। उस पर आज विचार नहीं किया जा सकता।

यह सुनि के सूरदास जी कहे जो—मैं तो सगरो जस श्री आचार्य जी को ही बरनन कियो है। जो मैं कछु न्यारो देखतो तो न्यारो करतो। परि तेंनें मोसों पूछी है, सो मैं तेरे पास कहत हों, सो या कीर्तन के अनुसार सगरे कीर्तन जानियो सो पद बिहाग़ो सो री—भरहृन दृढ़ चरणन केरो। पृ० ४२ प्राचीन वार्ता रहस्य[५]।

डॉ० रांगेय राघव

३

रामचरितमानस

महाकवि तुलसीदास के चिरस्मरणीय महाकाव्य का नाम ही राम के चरित्र के मानसरोवर में पाठक को अवगाहन कराता है। मानसरोवर तुलसी के युग में एक प्रचलित नाम था। लोग जानते थे कि यह हिमालय के उत्तरस्थ प्रदेश में एक झील है, जो पुरातन काल से ही अति पवित्र है, कलियुग में तो किसी तीर्थ से कम नहीं। उस झील में तुलसी ने अपने पाठक को भक्ति की लहरों में निमज्जित कर दिया। तुलसी के ग्रन्थ का रूप एक काव्य का रूप नहीं, एक पुराण का रूप है। पुराण के रूप और काव्य के रूप में मूल भेद है। आगम और निगम करके जो ग्रन्थ प्रचलित हैं वे किसी सम्प्रदाय विशेष के प्रचारक दृष्टिकोण को सामने रखकर लिपिबद्ध किये गए हैं। अतः उनमें प्रश्नोत्तरी का रूप सबसे सहज माना गया है। यह परम्परा पहले संस्कृत में रही। परवर्ती काल में दत्तात्रेय, नाथ, कबीर नामक पन्थों में होती हुई यह तुलसी के काव्य में भी प्रस्फुटित हुई। आज बहुत से जिज्ञासु कहते हैं कि तुलसी के इस पुराणकाररूप को देखना व्यर्थ है। वस्तुतः यह एक संकीर्णतावाद है जो परिस्थिति को पूर्णतया अध्ययनपूर्वक देखने के पहले अपने सिद्धान्त बनाकर उस पर सबको फिट करके अपना ही राग अलापना चाहता है। परन्तु इतिहास व्यक्तियों के स्वभावों की कारीगरी नहीं, वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण चाहता है। इसीलिए किसी भी कवि का मर्म समझने के लिए उसके उस रूप को अवश्य जान लेना चाहिए, जिसके द्वारा उसने संसार से और उसकी सामाजिक प्रक्रिया से अपना सम्बन्ध निर्धारित किया है। क्योंकि यदि एक ओर वह समाज से प्रभावित हुआ है, तो दूसरी ओर उसने समाज को प्रभावित भी किया है। तुलसी ऐसे ही महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हैं। जिन्होंने अपने जीवन के उत्तरांश में ही नहीं, अपनी मृत्यु के बाद भी शताब्दियों तक गहरा प्रभाव डाला है। इस प्रभाव डालने का कारण जहाँ एक ओर उनकी सुन्दर काव्य-शक्ति है, दूसरी ओर उनके काव्य का धार्मिक स्वरूप भी है। तुलसीदास का काव्य एक कवि की प्रेरणा-मात्र का फल नहीं, वरन् वह एक गहरे अध्ययन और चिन्तन का वह जागरूक स्वरूप है जिसे महाकवि प्रस्तुत करना चाहते थे।

तुलसी ने १६वीं शती में अपना काव्य रचा। इस युग में निस्संदेह रामकथा को लेकर लिखना अपना एक ध्येय रखता था। रामायण का ग्रन्थ प्रसिद्ध था और एक नहीं उस समय अनेक रामायण थीं। श्री रामदास गौड़ ने निम्नलिखित रामायणों का उल्लेख किया है—संवृत-रामायण, अगस्त्य रामायण, लोमस रामायण, मञ्जुल रामायण, सौपद्य रामायण, रामायण महामाला, सौहार्द रामायण, रामायण मणिरत्न, सौर्य्य रामायण; चान्द्र रामायण, मैन्द रामायण, स्वायम्भुव रामायण, सुब्रह्म रामायण, सुवर्चस रामायण, देव रामायण, श्रवण रामायण, दुरन्त रामायण, रामायण चम्पू तथा अध्यात्म रामायण। इसके अतिरिक्त रामायण की कथा १८ पुराणों और महाभारत में भी आई है। इन सब रामायणों की कथाओं में थोड़ा बहुत भेद भी है। एक

महत्त्वपूर्ण भेद है कि महाभारत की रामायण-कथा में तो सीता का अग्नि-प्रवेश ही नहीं होता जो वाल्मीकि रामायण में होता हुआ दिखाया गया है। तुलसीदास ने इनमें से कितनों को पढ़ा होगा यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता, परन्तु वे गहरे विद्वान् थे यह हमको सदैव स्मरण रखना होगा। इन सब रामायणों के अतिरिक्त स्वयंभूदेव (७६० ई०) ने भी रामायण लिखी थी। यह कवि जैन था। परन्तु 'नाना पुराण निगमागम सम्मतं' जो रामायण तुलसीदास ने लिखी है, उसका मूलाधार है—वह लिखता हूँ जो मैंने अपने गुरु से सूकरखेत में सुनी थी। इसका कारण था कि तुलसीदास राम की कथा की शृङ्खला-मात्र को अपना कर्तव्य नहीं बनाये हुए थे, वे और गम्भीर रहस्यों को ढूँढकर उनका हल प्रस्तुत करना चाहते थे। महाकवि रवीन्द्र बहुधा कहते थे कि बीसवीं शती में एक युग-व्यापक महाकाव्य लिखना कठिन है। सम्भवतः तुलसी के युग में भी यही प्रश्न था। एक ओर सूर कृष्ण पर निर्भर थे, दूसरी ओर सूफ़ी कवि अपनी कहानियाँ गढ़ते थे। तुलसी को एक युग-व्यापी विषय की आवश्यकता थी। उसने सफलता से रामायण को लिया और अमरता की देहली पर गौरव के पुष्पों को चढ़ाकर न केवल उसने अपने देवता को प्रसन्न कर लिया, वरन् अपने पीछे के दर्शनियों का हृदय भी गन्ध से भर दिया। इस प्रकार राम-कथा की एक विराट् परम्परा के अन्तिम जाज्वल्यमान चरण बनकर तुलसीदास उपस्थित हुए, जिन्होंने राम-कथा के अतिरिक्त सामाजिक नियमन और शास्त्र-प्रतिपादन, दर्शन-विवेचन के लिए प्रश्नोत्तरी का ढाँचा लेकर एक धर्मपुराण लिखा जिसका काव्य-सौन्दर्य भी श्रेष्ठ था और जिसका सन्देश भी युगानुरूप-सा ही दीखता था।

यहाँ तुलसी के काव्य का भेद अन्य रामायणों से समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। वाल्मीकि रामायण में नारद ने वाल्मीकि को राम के पूर्णत्व का उपदेश दिया। किन्तु वह एक महापुरुष का ही वर्णन था जिसमें सब महान् गुण हों। निस्सन्देह वाल्मीकि रामायण में यह अंश क्षेपक है, क्योंकि वाल्मीकि के लिए जो श्रेष्ठ विशेषण आये हैं वे वाल्मीकि ने स्वयं अपने लिए नहीं लिखे होंगे। अश्वघोष के समय में भी आख्यानक प्रचलित थे। 'उनमें बहुत झूठ है, अतः उन्हें नहीं सुनना चाहिए,' यह अश्वघोष ने उन आख्यानक काव्यों के विषय में कहा था। चमत्कार रामायण कथा में बढ़ते गए हैं यह हम महाभारत कथा का ऊपर उल्लेख करके प्रकट कर चुके हैं। वाल्मीकि रामायण में चमत्कार भरे पड़े हैं। राम-कथा तो बहुत पुरानी है, कब की है, उसकी तिथि तो निश्चित नहीं की जा सकती, परन्तु वह उस बर्बर युग (अर्थात् दास प्रथा वाले युग) की है जो महाभारत से पहले का था। उसका रूप प्रत्येक आने वाले युग में चमत्कारों से बढ़ता गया और वाल्मीकि रामायण, जो लगभग शुङ्गकाल की है, उसमें स्थिर हो गया। वास्तव में उस समय तक रामायण-कथा का प्रायः संपादन हो चुका था। वाल्मीकि रामायण के उस संपादन पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि यह तत्कालीन समाज के प्रकाश में काफी रँगी गई। राम को एक महान् नायक के रूप में उपस्थित किया गया। परन्तु वह मनुष्य ही रहा, याद रहे कि उस समय तक सामंतवाद के प्रसार ने प्रायः ही वे गण नष्ट कर दिये थे जो दास-प्रथा के बल पर रक्त गर्व के सिद्धांत को लेकर अवशिष्ट थे। दासयुग के वे एक तंत्र राज्य भी महाभारत-युद्ध के बाद अपने-आपको एकतंत्र के रूप में जीवित रखने में असमर्थ हो गए थे। उस समय उच्चकुलों ने दास-प्रथा को कायम रखने के लिए ग्रन्थों की रचना की थी। वे गण इसलिए नष्ट हो गए—

(१) नदियों का व्यापार बढ़ने से व्यापार का संतुलन बदल गया। वाणिज्य बढ़ा। व्यापारियों को बड़े राज्यों की आवश्यकता हुई। दास-प्रथा अब व्यापारी के लिए लाभदायक नहीं थी, क्योंकि कच्चा माल इधर से उधर ले जाने की बनिज में, गणाधिपति उतना लाभ नहीं दे सकते थे जितना किसान। इसलिए 'सर्फ' अधिक लाभदायक हुआ अर्थात् किसान।

(२) रक्त-गर्व और कुल-गर्व सामंत-काल में भी रहा अवश्य, और जन्मना ही रहा। परन्तु उसमें विवाहादि की ढील आई और गर्व के कारण एक दूसरी जाति के आवागमन में रोक-टोक नहीं रही।

(३) यात्रा की रक्षा के लिए बड़े राज्यों की आवश्यकता हुई। जैसे-जैसे आवश्यकता बढ़ती गई साम्राज्य बनते गए।

(४) दास और शूद्र, जो दलित थे उन्होंने सिर उठाया। दास जो पहले उत्पादन-प्रणाली में जुतता था वह अब पारिवारिक दास हुआ, और शूद्र किसान बना। इसको ब्राह्मणों ने बदलती परिस्थिति में स्वीकार कर लिया और वे फिर से समाज के नियंता बने।

(५) महाभारत-युद्ध के बाद बर्बर अर्थात् दास युग के समाज का ढाँचा बदला। पुराना चातुर्वर्ण्य बदला। पहले आर्य ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य होते थे, तथा शूद्र सब अनार्य थे, या अन्य जातियाँ अलग पुकारी जाती थीं जैसे राक्षस, नाग इत्यादि। अब वही चातुर्वर्ण्य सामंतीय व्यवस्था के लिए अपने-आप बदला। अब सब जातियों का परस्पर मिलन हुआ। सब पुजारी वर्ग ब्राह्मण,योद्धावर्ग क्षत्रिय, व्यापारीवर्ग वैश्य और कमकरवर्ग शूद्र हुआ। और चार मुख्य भागों में बटा समाज अपनी वर्गाधीन स्वतंत्रता का उपभोग करता, असंख्य उपजातियों के लिए रहा। यह भी यों हुआ कि सामंतीय समाज भी 'जन्मना' के आधार पर ही था। यद्यपि उसने बाह्य रूप को बदल दिया था।

(६) बर्बर युग के असाम्य पर सामंत-काल एक प्रगति बनकर आया। अब सामंत में ईश्वरत्व का आरोप हुआ और एक चरित्र-नायक का निर्माण हुआ। जिसने अपने पुरुषार्थ के बल पर संसार को सुखी करने का प्रयत्न किया। वह असाधारण व्यक्तित्व का पुरुष हुआ जिसने अपनी स्त्री को प्रजा के लिए त्याग दिया। स्त्री के अधिकार समाज में नहीं थे, उन्हें वह ठीक करने में असमर्थ था परन्तु वह अपने को समाज का अंग मानकर, कर-ग्रहण के अधिकार की मर्यादा को अक्षुण्ण रखने के लिए, बराबर सन्नद्ध रहा। वह अत्याचारी तथा-आक्रमणकारी का शत्रु था। वह राम था। वही रामायण का नायक बना।

इन परिस्थितियों में वाल्मीकि रामायण के वर्तमान स्वरूप का सम्पादन हुआ। बर्बर (दास)-युगीन सभ्यता को सामंतीय कलेवर पहनाकर उपस्थित किया गया। सामंत-काल के उदय के इस युग में एक ओर शम्बूक को दबाया गया, दूसरी ओर सीता के प्रति करुणा दिखाई गई। वस्तुतः स्त्री के प्रति सहृदय आन्दोलन कालिदास और भवभूति में भी रहा और दूसरी ओर ब्राह्मणधर्म-विरोधियों ने शंबूक के पक्ष का समर्थन बौद्ध-पंथों में किया। यह हुई कुछ बाद की बात। सामंत-काल के उदय के साथ समाज में जिस नई स्फूर्ति की अवतारणा हुई, वह वाल्मीकि रामायण ने प्रदान की और घर-घर उसका आदर हुआ, क्योंकि उस काव्य ने सामंतीय समाज के जितने पारिवारिक, राज्य संबंधी तथा सामाजिक संबंध थे, सबको निरावृत रूप से सहन बनाकर निर्धारित किया और लोकोत्तर-रंजन की ऐसी भावना भरी जिसने आगे बढ़ने की प्रेरणा दी।

उसके बाद के सब रामायण-ग्रन्थ पुराणकार ब्राह्मणों के खाने-कमाने के धंधे थे, इसलिए उनका आदर नहीं हुआ। स्वयंभू जैन था और उसने काव्य-मात्र के दृष्टिकोण से राम-कथा को प्रस्तुत किया, अपभ्रंश में लिखा यह ग्रन्थ भाषा के परिवर्तित हो जाने पर अपना महत्त्व खो बैठा, क्योंकि अपभ्रंश को संस्कृत (चाहे वह लौकिक ही क्यों न हो) की भाँति आदर प्राप्त नहीं था। उस समय तुलसी ने राम-कथा लिखी।

परन्तु तुलसी के समय में और वाल्मीकि रामायण के संपादन-काल में बहुत बड़ा भेद था। तब सामंतवाद का उदय था अब सामंतवाद ह्रासोन्मुख था। ह्रास के भी दो रूप थे। एक रूप तो वह था कि समाज सामंतों से अत्यंत पीड़ित हो चुका था। दूसरे जो वाल्मीकि रामायण के समय में चातुर्वर्ण्य में ब्राह्मण श्रेष्ठ बनकर बैठा था, वह अब खतरे में था। पहले की व्यवस्था में ब्राह्मण को सर्वोऽपरि मानते ही समाज का ढाँचा ठीक चल गया था। इस बार की परिस्थिति में ब्राह्मण का दर्जा गिर गया था। वाल्मीकि रामायण में भी ऋषियों की हड्डियाँ दिखाकर राम को उकसाया गया था। परन्तु वे ऋषि धर्म-प्रचारक थे। अपना साम्राज्य-विस्तार करने के क्षत्रियों के साधन थे।

अब ब्राह्मण साधक नहीं थे, वे समाज के बोझ थे, जो किसी भी परिस्थिति में अपने जाते हुए अधिकारों को रोकना चाहते थे। ऐसे समय में तुलसीदास ने राम-कथा को अपना आधार बनाया। तुलसीदास का विचार था कि रामायण भूल जाने से ही समाज उच्छृंखल हो गया है। वे ठीक थे। सामंतीय व्यवस्था के मूल प्रतिपादक ग्रन्थ की अवहेलना (या न समझना) के कारण ही समाज का ढाँचा ढीला पड़ गया है। अतः यदि फिर से राम-कथा लिखी जाय, अर्थात् समाज का सामंतीय ढाँचा पेश किया जाय, तो संभव है कि कलि से रक्षा हो सके। और यही सोचकर तुलसी ने अपना महत्त्वपूर्ण कार्य किया। सामंतीय रचना की कला-कृति को पुनः प्रस्तुत किया गया, किन्तु इतिहास स्थिर नहीं रहता। सामंत-काल जितना बदल चुका था उतना ही इस काव्य में भी भेद आ गया, और तुलसी के काव्य में व्यक्ति के पौरुष की महत्ता नहीं आई, क्योंकि वह तो सामंत-काल के उदय के समय की सामाजिक प्रगति थी, जो अब नहीं रही थी, वरन् उसके स्थान पर भक्ति के आवरण में श्रद्धा की भेंट माँगी गई और व्यक्ति के स्थान पर ईश्वर को प्रतिष्ठापित किया गया। यों परिवर्तन की सामाजिक पृष्ठभूमि उपस्थित हुई।

यहाँ हमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से अपना मतभेद स्पष्ट दिखाई देता है। वे अपने इतिहास में तथा तुलसीदास नामक ग्रन्थ में महाकवि तुलसी और सूर को एक भयभीत युग में साहस की श्वास फूँकने वाले व्यक्ति कहते हैं। वह व्यक्ति आन्दोलन को निराशा की आशा के रूप में प्रदर्शित करते हैं। सविनय हमारा यहाँ सैद्धांतिक विवेचन मेल नहीं खाता। आचार्य शुक्ल ने इतिहास को शुद्ध ब्राह्मण दृष्टिकोण से देखा है और इसीलिए उन्होंने इस्लाम के आगमन को भारतीय (अर्थात् ब्राह्मण) संस्कृति के ऊपर पदाघात मानकर निराशा का प्रसार स्वीकार कर लिया है। तथ्यों की कमी के कारण ऐसा कह जाना कोई असंभव बात नहीं है। परन्तु यदि सर्वरूपेण देखा जाय तो भक्ति-आन्दोलन इस्लाम के आगमन से प्रथम ही चल पड़ा था, और भक्ति-आन्दोलन के प्रतिपक्षी और पक्षी इस्लाम और हिन्दू उस समय नहीं थे, उस समय थे——

निम्न जातियाँ और ब्राह्मण तथा उच्च जातियाँ। दक्षिण के अड्यार और आलवारों से

प्रारंभ हुआ भक्ति का प्रवाह, पाशुपतों में संबल पाता रहा, फिर भागवत संप्रदाय बनकर वैष्णवों में पल्लवित हुआ और उसका शैव समानांतर लिंगायतों में प्रकट हुआ। पूर्व में सहज यान भक्ति के रूप में बदल गया। समस्त भक्ति-संप्रदाय उच्चवर्गों के अधिकारों के विरुद्ध था। जाति-प्रथा के विरुद्ध था। अपने युग की परिस्थितियों के कारण यह समाज में आमूल परिवर्तन नहीं कर सका था। परन्तु उसने संस्कृत भाषा को उखाड़ा। कबीर ने संस्कृत पर आक्रमण किया। परन्तु वे समस्त आन्दोलन व्यक्तिपरक थे। समाज के उत्पादन-क्षेत्र पर उनका असर गहरा न हो सका। वे केवल थोड़ी ही रियायतें दिलवाने में समर्थ थे। उस समय हिन्दू और मुसलमान दो खेमों में बँटे हुए नहीं थे। युद्ध होते थे, परन्तु जो उन्हें 'राष्ट्रीयता' का रूप देकर मन को भुलाने का प्रयत्न करते हैं, वे इतिहास का विवेचन ठीक तरह से नहीं करते। इस युग में राष्ट्र का अर्थ एक राजा का राज्य समझा जाता था, वह कोई 'सांस्कृतिक इकाई वाला प्रदेश' नहीं समझा जाता था। वीर-गाथा-काल के जो कवि या चारण हिन्दू और मुसलमान राजाओं का वर्णन करते हुए अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा करते थे। वे उसी तन्मयता से अपने आश्रयदाता की उस कीर्ति-गाथा को भी गाते थे जिसमें एक हिन्दू दूसरे हिन्दू सामन्त को हराता था। कबीर ने हिन्दू मुसलमान दोनों पर आक्रमण किया। योगी अपने को अलग कहते ही थे। तुलसीदास ने आकर देश की परिस्थिति को यों समझा—मुस्लिम शासक भारत पर छाये हैं। सारे हिन्दू सामन्तों ने सिर झुका दिया है। वर्णाश्रम-धर्म लुप्त हो रहा है। ब्राह्मण के अधिकार क्षीण हो रहे हैं। प्रजा पीड़ित है। किसान को खेती नहीं है। यह सब क्या है? शास्त्र और पुराण इसे ही कलियुग कहते हैं। यह कलियुग कैसे समाप्त हो सकता है? यदि कोई अच्छा शासक हो। वह कैसे मिले? जातीय उत्थान करके वर्णाश्रम धर्म को फिर से स्थापित करने से ही यह सम्भव हो सकता है। परन्तु इस समय इतने पन्थ हैं कि जनता भरमाई हुई है। अतः समस्या की सुलझन कहाँ है? एक ओर ज्ञानमार्गी हैं दूसरी ओर भक्तिमार्गी। ठीक है। भक्ति और ज्ञान का समन्वय आवश्यक है। परन्तु जो ज्ञानमार्गी या जो भक्तिमार्गी वेदत्रयी को स्वीकार नहीं करता, वह त्याज्य है। इसी बात का अत्युग्र रूप था—'जाके प्रिय न राम वैदेही, तजिये ताहि कोटि वैरी सम जद्यपि परम सनेही''।

तुलसीदास ने इस्लाम के विरोध में स्वर उठाया और वर्णाश्रम धर्म को फिर से स्थापित करके भीतरी शत्रुवाद (पन्थवाद) का नाश किया। यह तुलसीदास का ऐतिहासिक कार्य था। भक्ति-सम्प्रदाय की विराट नदी सिमट गई। इसके बाद उच्चवर्गों को सन्तोष मिल गया। परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि निम्न-वर्गों ने तुलसी को इतना महत्त्व क्यों दिया? इसलिए कि तुलसी ने अपने 'रामचरितमानस' के उत्तर-काण्ड में जिस आदर्श सामन्तीय राज्य की कल्पना की वह इस्लामी शासकों और उनके छुटभैये हिन्दू सामन्तों की लूट के सामने स्वर्ग-सी दिखाई देती थी। तुलसीदास के नये दृष्टिकोण के बाद ही भारत में कमकर अर्थात् मेहनतकश लोगों ने सिख, मराठा, जाट आदि के रूप में विशाल मुगल साम्राज्य के विरुद्ध सिर उठाया जो कि हिन्दू सामन्तों के कन्धों पर टिका हुआ था। शिवाजी ने जो जयसिंह को पत्र लिखा था उससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि तब तक शिवाजी समझ चुके थे कि मुगलों का अत्याचार हिन्दू साहाय्य के कारण ही है। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि शिवाजी का जनवाद सामन्तीय जनवाद था आधुनिक नहीं। यह उनके युग की बन्दिश थी। तुलसीदास ने उच्च जातियों के धर्म शास्त्रियों को पूर्णतया

स्वतन्त्र कर दिया, क्योंकि जो उन्होंने प्रचार किया वह इतना अधिक समर्थ था कि फिर उच्चवर्गों को भीतरी (निम्न जातियों के) वर्णाश्रम-विरोधी-आन्दोलनों का डर आता रहा। वे रीतिकाल अर्थात् विलासवाद में डूब गए।

तुलसी में यह बातें मुख्य थीं—

१—उन्होंने 'रामचरितमानस' ब्राह्मणों के विरोध के बावजूद भाषा में लिखा और जनवाद को सहायता दी। किन्तु उन्होंने संस्कृत को भाषा में अधिक भरा।

२—उन्होंने दास भाव से भक्ति को अपनाया और उच्छृङ्खलता का नाश किया।

३—उच्छृङ्खल सामन्तों और विदेशी म्लेच्छ यवनों का विरोध करके एक आदर्श सामन्त का रूप रखा, जो न्याय करने वाला था। उन्होंने कालिदास के रघुवंश के सामन्त को ठीक माना जो सूर्य की तरह (कर लेकर) जल शोषण करे परन्तु फिर भी बादल बनकर (रक्षा आदि) बरस कर प्रजा को लाभ पहुँचाये। इससे तात्कालिक शोषण में ग्रस्त जनता बल पा सकी।

४—तुलसी ने वर्णाश्रम का प्रचार किया। ज्ञान और भक्ति का समन्वय किया। वेद-विरोधी सम्प्रदायों पर गहरी चोट की। समाज में जो निम्नवर्गों का आन्दोलन ब्राह्मण सर्वाधिकार के विरुद्ध चल रहा था, उसे गहरी चोट दी, बल्कि उस आन्दोलन को ही नष्ट कर दिया। और समस्त वेदानुयायियों को एक करके इस्लामी संस्कृति के विरुद्ध खड़ा कर दिया। अपनी *समस्त रचनाओं में कहीं भी तुलसी ने मुसलमानों के प्रति एक भी सुन्दर शब्द नहीं कहा।* केवट इत्यादि के रूप में निम्न जातियों का महत्व बढ़ाया वह इसलिए कि वे राम के प्रति 'वफादार' थे।

५—राक्षस-जैसे शत्रुओं में केवल एक विभीषण था जिसके व्यक्तित्व को तुलसी ने बहुत उठा दिया। वाल्मीकि रामायण में विभीषण एक राजनीतिज्ञ के रूप में है, वह न्याय देखकर राम की ओर आता है, किन्तु तुलसीदास का मानस विभीषण एक भक्त है और भक्ति के कारण वह राम का उपासक है।

अनेक अन्य बातें हैं जिनमें जैसे-जैसे घुसा जायगा, नये-नये तथ्य प्राप्त होंगे। हम संक्षेप में तुलसी के दो पक्ष पाते हैं—१. जनवाद २. प्रतिक्रियावाद।

जनवाद में उनको ऊपर बताये १. ३. के सहारे खड़ा किया जाता है। २. ४. ५ उनके दूसरे रूप को प्रकट करते हैं। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि जिसे हम आज जनवाद या प्रतिक्रिया कहते हैं, वे तुलसी के युग में दूसरे रूप में थे।

सामंतीय व्यवस्था में ब्राह्मणों के अत्याचारों से दबी प्रजा ने भक्ति-आन्दोलन चलाया था तब विरोधी ब्राह्मणवाद और अब्राह्मणवाद थे। तुलसी के समय में परिस्थिति बदल चुकी थी। सबको इस्लाम के सर्वोपरि शासन ने दबा लिया था। इसीलिए तुलसीदास ने दो काम किये :

(१) भारतीय संस्कृति को उठाया। यहाँ भारतीय का अर्थ ब्राह्मणवादी संस्कृति से है। इस्लाम के विरुद्ध मोर्चा खड़ा किया।

(२) अन्दरूनी द्वेष मिटाये। वर्णाश्रम स्थापित किया और प्रजा में सामंतीय ढाँचा प्रतिष्ठापित किया।

बहुधा लेखक कहते हैं, तुलसी ने जन-भाषा में लिखकर पंडितों की धरोहर को नष्ट किया और यह एक बड़ा विद्रोह था। और वह यह भी कहते हैं कि तुलसी पहले बहुत दरिद्र थे।

वे जनता के पीड़ित व्यक्ति थे, उनकी जाति-पाँति का भी पता नहीं था। परन्तु दोनों बातें लचर हैं। हम यह जानते हैं कि रामानुजाचार्य की भक्ति-परम्परा में मुसलमान शाहजादी के लिए श्री रंगम के भगवान् रंगनाथ उठाकर मैलकोटै ले जाये गए थे क्योंकि शाहजादी दर्शनार्थ आकर राह में ही मर गई थी, अतः भगवान् को भक्त के पास ले जाया गया था। रामानुज ने ही चमारों को तिरुनारायणपुरम् के मन्दिर में घुसा दिया था। रामानन्द ने इसी परम्परा में कबीर को अपना शिष्य बनाया था? भागवत सम्प्रदाय का आधार ही रियासतें देना था। तुलसी में उसको पूर्णरूपेण छोड़ देने की शक्ति नहीं थी। वे जानते थे कि हू-बहू ब्राह्मणवाद अब बिलकुल अपने प्राचीन रूप में लागू नहीं किया जा सकता। युग ने जो सिर उठाया था, क्या तुलसी उसको झुका सकते थे?

भक्ति-सम्प्रदाय का मूल मानवतावाद था। भक्त तो ईश्वर से बढ़े हुए थे सीतुनेल। दासत्व सिखाया, भगवान् को राजा बनाया। परन्तु उन्होंने भी भक्त को राम से बड़ा बताया है। इसका कारण है कि तुलसी ने राम की भक्ति में राम का पूर्ण रूप नियोजित किया है और जो राम को मान लेता है, उसे सबसे ऊपर मान लेने में तुलसी को आपत्ति ही क्या हो सकती है। इसी परम्परा में भाषा भी है। भाषा तो प्रचलित थी ही। केवल ब्राह्मण-धर्म अपने संकोचों में बद्ध था। इस्लाम के विरुद्ध ब्राह्मणों को नेता बनाकर समस्त प्रजा का संगठन करने के लिए ब्राह्मणवाद को भी नये रूप की आवश्यकता थी, अतः उन्होंने हिन्दी को लिया। कट्टर लोगों ने प्रारम्भ में विरोध किया, परन्तु उनके जीवन के अन्तिम काल में ही ब्राह्मणों ने उनके सामने सिर झुका दिया और स्वीकार किया कि तुलसी ने धर्म के उद्धार के लिए ही भाषा को अपनाया था। ब्राह्मणों की संकुचित सीमा को तोड़कर ही तुलसी ने ब्राह्मण संस्कृति को सशक्त बनाया। इसीलिए तुलसी ने केवल भाषा के तद्भव रूप को ही नहीं लिया उसमें उन्होंने तत्सम शब्दों को भी घुसेड़ा।

तुलसी ने क्या किया यह यदि जानने की आवश्यकता हो तो कुछ मुसलमानों की महफ़िल में जाइये। क्या मुसलमान सम्प्रदायों को कबीर, रैदास आदि से कहीं विरोध है या उनकी भाषा से ही। तुलसी में वह पक्ष देखते हैं? पहली बात तो साफ हुई। रहा उनका दारिद्र्य, तो संसार में अनेक दलित लोगों ने उच्चवर्गों के स्वार्थ की ही बात की है। तुलसी जो दारिद्र्य से पीड़ित लोगों के लिए रोते थे, वे इसलिए कि वे उसे वर्णाश्रम धर्म के लोप से आये हुए कलि के शासन के रूप में लेते थे और यही उनकी सदैव प्रार्थना रही है।

अभी हाल में ही हिन्दी के एक आलोचक महोदय ने लिखा है "गंगा-यमुना से सींची हिन्दी इलाके की धरती में कवियों और सुधारकों की कमी कभी न रही। ऋग्वेद के कवि ऋषियों से लेकर 'प्रसाद' और 'निराला' तक हमारी जाति की गौरवमयी काव्य-परम्परा रही है।"[1]

वे नहीं जानते कि गंगा-यमुना के प्रदेश में ऋग्वेद के कवि बहुत बाद में आये थे और उस गौरव में आर्य दम्भ ही था जिसने वर्ण-व्यवस्था का मूल स्वर उठाया था। वह गौरव सबका नहीं था। तुलसीदास को लेखक महोदय ने ऐसे स्थान पर रखा है, तुलसी की प्रशंसा करते हुए—तुलसी से पहले भी जनभाषा खूब समृद्ध थी। तुलसी ने केवल ब्राह्मण धर्म को जन-भाषा में लिखा था और इसलिए वे खूब संस्कृत भी भर लाये थे।

---

१. (जनयुग २४-८-५२)

अब तुलसीदास के विषय में रामचरितमानस से कुछ तथ्य देखना और आवश्यक है।

(१) उन्होंने परशुराम-क्रोध-दलन दिखाकर ब्राह्मणों की निन्दा की।

(२) ब्रह्मचर्य दम्भी नारद को गिराया। इनके सरल उत्तर हैं—

(१) उन्होंने असहिष्णु ब्राह्मणवाद का विरोध किया जो शूद्रों से मिलकर चातुर्वर्ण्य स्थापित नहीं करता था।

(२) उन्होंने नारद के ब्रह्मचर्य में अध्यात्मवादी योगियों पर प्रहार किया जो भक्ति के नाम पर राम के सामने सिर नहीं झुकाते थे। यहाँ तक राम को अगम अतीत कहकर भी तुलसी ने मोर-मुकुट वाले कृष्ण को सिर नहीं झुकाया था। उन्हें आदर्श सामन्त के हाथ में धनुष-बाण चाहिए थे। यहाँ तुलसी का भागवत के भक्ति सम्प्रदाय से भेद था। भागवत का भक्ति सम्प्रदाय दक्षिण में उगा था जो समाज में प्रेम चाहता था, रियायतें देना चाहता था। कृष्ण का लोकरंजनकारी स्वरूप उसमें लीलाओं से दब गया था। तुलसी ने लीला से ऊपर कर्तव्य रखा और अपने युग की बदली हुई परिस्थिति में नया तत्त्व प्रतिपादित किया।

जनयुग में पृष्ठ ७, २४-८-५२ में एक लेखक ने कहा है कि 'ढोल गँवार' वाली चौपाई क्षेपक है। वह 'मानस' में नहीं है। यद्यपि ऐसा सोचने का उन्होंने कोई आधार नहीं दिया, वे इस बात को बहुत ठीक समझते हैं। सोचना यह है कि तुलसी ने यह भी लिखा कि नहीं :

विप्रचरन सेवक नर-नारी

× × ×

पूजिय विप्र सील गुन हीना।

× × ×

अवधपुरी बासिन्ह कर सुख सम्पदा समाज

सहस शेष नहि कहि सकहि जहँ नृप राम बिराज।

अर्थात् रामराज्य की प्रशंसा की गई है।

× × ×

मातु पिता गुरु विप्र न मानहि

आपु गये अरु घालहि आनहि।

× × ×

अवगुन सिन्धु मन्दमति कामी

वेद विदूषक परधन स्वामी।

विप्र द्रोह पर द्रोह विसेषा

दम्भ कपट जिय धरें सुवेषा॥

फिर वे भागवत सम्प्रदाय की सहिष्णुता में कहते हैं :

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहि अधमाई।

परन्तु यहाँ भी निर्णय वेद का ही है :

निर्णय सकल पुरान वेद कर।

राम पुरवासी, ब्राह्मण और गुरु को बुलाकर कहते हैं :

नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई,
सुनहु करहु जो तुमहिं सोहाई।

परन्तु संग ही यह भी कहते हैं :

सोई सेवक प्रियतम मम सोई,
मम अनुसासन मानै जोई।

इनसे प्रकट होता है कि हर रियायत की वास्तविकता क्या थी।

रामचरितमानस में तुलसी के दो रूप हैं। वे भक्तिपक्ष में अपने युग के मानवतावाद से प्रभावित रहे हैं, परन्तु शास्त्रों की मर्यादा को उन्होंने साथ-ही-साथ स्थापित किया है। कलि का विरोध करके भी वे विरोध करते-करते घबरा गए हैं। उस स्थान पर उन्होंने भक्ति को माना है, क्योंकि भक्ति में तर्क नहीं आते, ज्यों-का-त्यों सब स्वीकार कर लिया जाता है। वेद-पुराणों के जिन आदेशों के विरुद्ध नीच जातियों ने ईश्वर को अपना कहकर 'भक्ति' को चलाया, उसी भक्ति के इस स्वरूप को तुलसी ने भी लिया, क्योंकि उसमें तर्क नहीं थे। परन्तु तर्क-हीनता पर उसको लादा जिसका समस्त नीच जाति के संतों ने विरोध किया था—अर्थात् वेद, शास्त्र और पुराण को।

उस समय तुलसी ने रामचरित गाकर सामंतों को भी शिक्षा दी। हिन्दू-मुसलमान शासक भ्रातृ-हत्या और पितृ-हत्या में रँगे थे। तुलसी ने आदर्श सामंत परिवार की सृष्टि की। कैकेई, जो वाल्मीकि में राज्यलोभग्रस्ता हैं, उसे भी तुलसी ने भक्त बनाया है, क्योंकि कैकेई की गलती को तो उन्होंने भगवान् की लीला के अन्तर्गत रख दिया है। इस जरा-सी बात के पीछे एक बहुत बड़ा तथ्य है। बर्बर (दास युगीन) कालीन समाज से छूट मिली थी तो सामंतीय समाज ने कई जातियों को भीतर ग्रसकर आत्मसात् कर लिया था। धर्म-शास्त्र जाति-प्रथा को जटिल बनाते जा रहे थे, तुलसी ने वह काम पूरा किया और नीच की गलती को भगवान् की लीला कहकर प्रचारित किया। इस जाति-जटिलता के दो कारण थे, एक तो इस्लामानुयायी जातियों ने भारत का समुद्र-व्यापार छीन लिया, दूसरे यहाँ के धर्मों पर प्रभाव डालना शुरू किया।

रामचरितमानस में भी लोक-रंजन और कर्तव्य-पथ की इति उसी व्यक्तिपरक मोक्ष की भावना में हुई जो युग में प्रचलित थी। वास्तविकता यह थी कि धरती पर सब ठीक होते ही तुलसी ने दर्शन के क्षेत्र में उसी 'परवाद' को स्वीकार किया। रामानुज की लीला को भक्ति बनाकर लिया गया और माया का विरोध करके भी उसकी सत्ता स्वीकार की जब कि रामानुज में माया को लीला का ही दूसरा स्वरूप माना गया। जो तुलसी को विशिष्टाद्वैत मत का अनुयायी मानते हैं, उन्हें यह समझना आवश्यक है।

हमने संक्षेप में तुलसी की युग पूर्ववर्ती विचार-धारा और विशेषताओं को देखा। यहाँ हम उनके काव्य के रूप और काव्य पर विचार करेंगे।

तुलसी ने चौपाई और दोहे को लिया। चौपाई और दोहा लिखने की भाषा में पुरानी परम्परा थी। पहले चौपाई का दीर्घान्त होना आवश्यक नहीं था। स्वयंभू से तुलसी तक इतना विकास हो गया कि चौपाई ने अपना स्वरूप स्थिर कर लिया। चौपाई छोटी होती है, झट जीभ पर चढ़ती है। महाकाव्य के लिए छोटे छन्द का होना अत्यन्त आवश्यक होता है। तुलसी ने

वाणी से गूँज देना। सारांश में हम कह सकते हैं—

१—तुलसी ने जनभाषा का प्रयोग करके पुराने आभिजात्य सामन्तवाद को हराया।

२—तुलसी ने जनभाषा का प्रयोग करके नए सामन्तवाद को प्रतिष्ठित किया।

३—तुलसी ने भक्ति-सम्प्रदाय की सहिष्णुता को स्वीकार और तर्क का विरोध करके सामन्तवाद के साथ एक विरोधी वस्तु वेदवादी धर्म को स्थापित किया। परन्तु यह भी स्पष्ट हुआ कि तुलसी ने सामन्तवाद की मर्यादित व्यवस्था न देते हुए इस्लाम के विरुद्ध लोकप्रतिकारी शक्ति के रूप में खड़ा किया और तर्क को तिलांजलि दी।

४—तुलसी ने वर्णाश्रम धर्म को स्थापित करने के लिए भक्ति-मार्ग प्रचार किया, परन्तु यह युग के लिए सत्य था। इस्लाम के नाम पर शासन करने वालों और हिन्दू सामन्तों का गठबंधन प्रजा को उत्पीड़ित कर रहा था। तुलसी ने हिन्दू सामन्तों को और प्रजा को एक होकर इस्लामी शासकों के विरुद्ध उठने का मार्ग दिया। यही सिक्खों, जाटों और मराठों में प्रतिफलित हुआ। राष्ट्रीयता (Nationalities) का भी विकास हुआ।

५—सन्त कवि जाति-प्रथा के विरोधी थे, वे दरिद्र, धनी के चक्कर में नहीं थे। उनका दृष्टिकोण ठीक था। क्योंकि दरिद्र नीच जाति थे और धनी ऊँच जाति। अतः वे जाति-संघर्ष के रूप में ही चीज़ को लेते थे। तुलसी ने जाति के वर्गरूप को भुलाकर यही व्यवस्था स्थापित रखनी चाही। स्पष्ट है कि तुलसी का मुख्य काम ऊपर नं० ४ में कही बात थी और वे उसमें सफल भी हुए।

अन्त में एक बात पर विचार कर लेना और ठीक है। 'तुलसी दरबारी कवि नहीं थे सन्त थे, और उन्होंने 'स्वान्तः सुखाय', लिखकर अपने जनवाद का परिचय दिया' यह बहुत से लोग कहते हैं।

यहाँ यह जान लेना चाहिए कि स्वान्तः सुखाय से अर्थ केवल निम्न लिखित था—किसी राजा के लिए नहीं अपने सुख के लिए लिखता हूँ। अपना सुख क्या है? यह तो हम ऊपर देख चुके हैं। तत्कालीन कवि धन के लिए राजाओं के चाटुकार और विलासी थे। तुलसी सुधारक थे और संसार-त्यागी थे। वे तो एक धर्मगुरु थे। उन्होंने काव्य लिखा—धर्म पुराण के रूप में, धर्मगुरु बनकर। अतः वे जनवादी परम्परा में नहीं आते जिसमें कबीर थे, परन्तु वे पुराणकार परम्परा में आते हैं।

उपर्युक्त वैज्ञानिक विवेचन तुलसी का निरादर नहीं है। वह सत्य है। यदि हम कहते हैं

कि कबीर ने मनुष्यता का पाठ पढ़ाया परन्तु वे 'शून्य' की खोज में रहते थे, तो हम उनका मान नहीं करते, वरन् वैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं। तुलसीदास प्रसिद्ध हैं, महान् हैं, कवि हैं, उनका गलत विवेचन करके प्रगतिवादियों में उनका नाम लिखाना हमारा कर्तव्य नहीं है। कच्चे मार्क्सवादी उनको काफी विकृत कर रहे हैं। पाठकों को चाहिए कि साफ-साफ बात वे तुलसी ने इस्लामी शासकों का विरोध करके, कुछ बुरा नहीं किया, वे सबसे बड़े शोषक थे। तुलसी ने जो वर्णाश्रमधर्म प्रतिष्ठापित किया इसका कारण वे यही समझते थे कि इसी से स ठीक हो सकता है।

तुलसी को जनवादी प्रकट करके ही क्या उनकी महत्ता प्रकट होती है? विद्यापति, में कौनसी जनवादिता थी। यह बात का बतंगड़ ही व्यर्थ है। इतिहास को अपने दृष्टिको लिए विकृत करना ही नहीं चाहिए, आचार्य शुक्ल ने भक्ति को जो निराशा की आशा मा गलती की थी, कुछ आलोचकों ने उसी में से तुलसी का जनवाद ढूँढ़ निकाला जिसकी हाँ-मे मिलाना आजकल के अवसरवादी तथा कथित मार्क्सवादियों का ध्येय हो गया है। हमें उसके सचेत रहना है, क्योंकि उसके बिना हम कभी तुलसी की वास्तविक महानता को नहीं स सकेंगे।

विश्वम्भर 'मानव'

४

बिहारी-सतसई

पिछले एक हजार वर्ष की काव्य-निधि में से यदि हम दस सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों को चुनना चाहें, तो उनमें बिहारी-सतसई का नाम आएगा। ये ग्रन्थ हैं—'पृथ्वीराज रासो', 'पद्मावत', 'सूरसागर', 'रामचरितमानस', 'रामचन्द्रिका', 'बिहारी-सतसई', 'कामायनी', 'प्रिय-प्रवास', 'साकेत' और 'दीपशिखा'। इनमें से अधिकतर ग्रन्थ प्रबन्ध-काव्य हैं। जीवन की विविधता का गहराई और सूक्ष्मता के साथ चित्रण करने के कारण प्रबन्ध-काव्य के श्रेष्ठ ग्रन्थों में परिगणित होने और उसके रचयिता को महाकवियों की श्रेणी में आसन मिलने की, मुक्तककार से अधिक सम्भावनाएँ रहती हैं। फुटकर प्रसंगों पर लिखने की अपेक्षा मुक्तककार भी उस समय अधिक सफल होते देखे गए हैं जब उनके संग्रह-ग्रन्थों के पीछे किसी प्रकार की एकसूत्रता, जो वास्तव में प्रबन्ध का गुण है, विद्यमान हो। सूरसागर, दीपशिखा और बिहारी-सतसई में यह एकसूत्रता भक्ति, रहस्य और प्रेम को लेकर है।

बिहारी ने मुग़ल-साम्राज्य के समृद्ध-काल में अपनी काव्य-साधना की। ऐसा युग काव्य-श्री के निखार के लिए सदैव उपयुक्त होता है। उस समय प्रजा सुखी थी और शासकों ने देश में शान्ति स्थापित कर दी थी। वे कलानुरागी थे, इसी से अनेक रूपों में उसका विकास हो रहा था। विद्रोह की भावना एक प्रकार से मिट चुकी थी। यह विद्रोह की भावना ऐसी है कि आँधी की भाँति उठती है, शान्त हो जाती है और फिर उठती है। उस आँधी के फिर उठने में अभी देर थी। जैसा जयसिंह द्वारा बलख से शाहजहाँ की सेना को बचाकर लाने के वर्णन से पता चलता है, आक्रमण के समय हिन्दू-मुसलमान कन्धे से कन्धा भिड़ाकर लड़ते थे। राजनीतिक बातों में शासन थोड़ा हस्तक्षेप अवश्य करता रहा होगा, क्योंकि एक स्थान पर बिहारी ने 'दुराज' शब्द का प्रयोग करते हुए उसके विषम परिणाम की चर्चा की है। धर्म की दृष्टि से यह युग साम्प्रदायिक कट्टरता का युग न था। कबीर के समय से ही कवि लोग इस प्रकार की कट्टरता का विरोध कर रहे थे और धर्म को वे बहुत उदार बनाने में समर्थ हुए। बिहारी ने वैष्णव धर्म और निर्गुण मत, दोनों का समर्थन समान भाव से किया है। धर्म के सम्बन्ध में पूरी स्वतन्त्रता उस समय लोगों को थी। एक पुराण-वाचक के प्रसंग में हमारे कवि ने उसे व्यभिचारी दिखलाया है और मन्दिर भी प्रेमियों के मिलन-स्थल बतलाए हैं। इससे सिद्ध होता है कि धर्म में थोड़ा ढोंग उस समय भी बना हुआ था। पर सबसे अधिक मनोरंजक है बिहारी द्वारा प्रस्तुत समाज का चित्र। हो सकता है जिस समाज का वर्णन बिहारी ने किया हो, वह बहुत ही सीमित हो। कुछ वर्णन तो निश्चित रूप से राधा-कृष्ण के काल का है। पर बिहारी के नायक-नायिका उनके अपने काल के भी हैं। मैं कभी-कभी सोचता हूँ वह कैसा युग रहा होगा जब युवतियाँ काम के बाण से मर्माहत हो अभि-सार करती थीं; वन, खेत, कुञ्जों, खण्डहरों में अपने प्रेमियों से मिलती थीं और इस निर्द्वन्द्व

जीवन में कोई अधिक हस्तक्षेप नहीं करता था!

वैसे तो श्रेष्ठ-काव्य के सौन्दर्य को ग्रहण करने के लिए पाठक में सदैव ही एक की ग्राहिका-शक्ति चाहिए; पर बिहारी-सतसई के वास्तविक महत्त्व को समझने के लिए तो वैसी क्षमता के काम ही नहीं चल सकता। यह क्षमता काव्य-शास्त्र के ज्ञान पर निर्भर करत है। बिहारी में प्रतिभा तो थी ही, साथ ही इस प्रतिभा को अध्ययन के द्वारा उन्होंने ि था और अपने इस अध्ययन का उपयोग उन्होंने पूरी शक्ति के साथ किया था।

बिहारी सतसई की मूल प्रवृत्ति शृंगारी हैं। सतसई की रचना की प्रेरणा के सम्ब जो यह कहानी कही जाती है कि बिहारी ने जयपुर पहुँचने पर एक दोहे की मार से ही नई रानी के प्रेम में आबद्ध महाराज जयसिंह को अन्तःपुर के घेरे से मुक्त किया, उसे लेकर आलोचकों ने प्रायः एक ही सी बात कही है। यह घटना यदि सच हो, तो भी इससे प्रम यही होता है कि प्रारम्भ से ही बिहारी की प्रवृत्ति शृंगारी थी। उस दोहे को लीजिए—

नहिं परागु, नहिं मधुर मधु, नहिं विकासु इहिं काल।
अली कली ही सौं बंध्यौ, आगैं कौन हवाल॥

इस दोहे का आशय यह नहीं है कि रज और रसहीन कली से ही जो भौंरा बधा हुआ है, अर्थात् जो नायिका की यौवन-प्राप्ति से पहले ही उसके रूप पर मुग्ध होकर क ज्ञान भूल गया है, उसकी आगे क्या दशा होगी; वरन् यह कि जो समय से पूर्व ही अपने र्पण का परिचय दे रहा है, वह रस का समय आने पर अपने अनुराग की दृढ़ता और भी प्रमा करेगा। इस प्रकार यह दोहा बोधोदय के लिए न लिखा जाकर रसोदय के उद्देश्य से ही ि गया होगा। जयसिंह ने जो बिहारी से मिलना चाहा होगा वह इसलिए कि आदमी कैसा है पर है रसज्ञ और इसी से अशर्फ़ियों के मोल उन्होंने उनके दोहों को खरीदा, यद्यपि यह बहुत कम था।

संयोग-काल की कोई ऐसी स्थिति नहीं जो बिहारी की दृष्टि से बची हो। रूप-दर्शन आकर्षण होता है। रूप के ये वर्णन नायिका के हैं और इस दृष्टि से नायिका से अधिक के आकर्षण का वर्णन होना चाहिए था; पर ऐसा है नहीं। नायक से अधिक यहाँ भी ना पर कवि की दृष्टि है। नायिका आकर्षित होती है। आकर्षित होने पर पीड़ा का अनुभव क है। नायक कहीं मिल जाता है, तो किसी-न-किसी बहाने उस पीड़ा को व्यक्त करने के उ ढूँढ़ती है। नायक उसके आकर्षण को पहचान कर उसे भेंट भेजता है जिनमें घुँघचियों की म पान और पंखा मुख्य हैं। आजकल की प्रेमिकाएँ शायद इतनी सस्ती भेंट स्वीकार न करें। आकर्षण के स्थायी हो जाने पर नायिका गुरुजन-परिजन की आँख बचाकर अभिसार के ि तैयार होती है। पथ में कोई झंझट खड़ी न हो जाय, इसलिए दूती अधिकतर साथ रहती एकांत में नायक-नायिका का मिलन होता है। क्रीड़ा करने से पहले नायिका मदिरापान क है और थोड़ी देर झूठी 'नाहीं' 'नाहीं' करने के उपरांत सुख से सुरत में लीन होती है। अ ढीट हो जाने पर तो उसे विपरीत-रति के लिए तैयार किया जा सकता है—

मैं मिसहा सोयौ समुझि, मुँह चूम्यौ ढिग जाइ।
हँस्यौ, खिसानी, गल गह्यौ, रही गरैं लिपटाइ॥

दीप उजेरैं हू पतिहि हरत बसनु रति काज।
रही लपटि छबि की छटनु नैकौ छुटी न लाज॥

इस मिलन में कुछ ऐसी बातों का वर्णन भी बिहारी ने किया है जो कुछ रसिकों को चाहे अच्छी लगें; पर अधिक गम्भीर रुचि वाले व्यक्तियों को शायद ही रुचिकर प्रतीत हों। उदाहरण के लिए नायक पतंग उड़ा रहा है तो नायिका आँगन में उसकी छाया छूने के लिए दौड़ी-दौड़ी फिरती है या नायक नायिका की गोद में बच्चा लेते समय चुप से उसकी छाती को उँगली से दबा देता है या दोनों घरों के बीच में जो दीवाल है उसमें बड़ा छेद करके दोनों रात-भर एक-दूसरे का हाथ पकड़े खड़े रहते हैं या फिर पैरों की उँगलियों के बल खड़े होकर और दीवाल पर थोड़ा उचककर दोनों एक-दूसरे के कपोल चूमकर भाग जाते हैं।

बिहारी का संयोग-वर्णन जैसा सफल हुआ है, वियोग-वर्णन वैसा नहीं। एक तो वह उतना विस्तृत नहीं है, दूसरे स्वाभाविकता का स्थान वहाँ उक्तियों के चमत्कार और अतिशयोक्तियों ने ले लिया है। किसी मनोदशा का वर्णन कहाँ काव्य का रूप ग्रहण करता है और कहाँ वह खिलवाड़ बन जाता है, इसका ज्ञान बहुत कम साहित्यिकों को होता है। लगता है जीवन के संयोग-पक्ष का बिहारी को जैसा अनुभव था, वियोग-पक्ष का वैसा नहीं। मिलन और विरह जीवन की दो ऐसी गम्भीर स्थितियाँ हैं कि जब तक किसी कवि को इनका गहरा अनुभव न होगा, तब तक वह अपने काव्य में भी इनकी अभिव्यक्ति प्रभावोत्पादक ढंग से न कर पायेगा। वियोगावस्था में पहुँचते ही बिहारी की नायिका कभी प्राण बचाने के लिए चन्द्रमा और समीर के सामने दौड़ती फिरती है, कभी जुगनुओं को अंगारे समझकर भीतर छिप जाने की सलाह देती है। साँस लेती है तो कभी छः-सात हाथ इधर कभी छः-सात हाथ उधर खिसक जाती है। रोती है तो आँसू छाती पर पड़ते ही भाप बनकर उड़ जाते हैं। कोई उस पर गुलाब-जल छिड़क देता है तो वह बीच ही में सूख जाता है। दुर्बल इतनी हो गई है कि मृत्यु चश्मा लगाकर भी उसे देखना चाहे तो नहीं देख पाती। पड़ौसी उससे परेशान हैं। जाड़े की रातों में गीले कपड़े आगे कर उसके पास तक पहुँच पाते हैं और ग्रीष्म में तो उसके पड़ौस में रहना असम्भव हो गया है!

ऐसा नहीं है कि वियोग के स्वाभाविक वर्णन बिहारी में बिल्कुल पाए जाते ही न हों, पर वे अस्वाभाविक वर्णनों से इतने दबे हुए हैं कि सहसा लक्षित नहीं होते। नीचे के दोहों को ही देखिए जिनमें शारीरिक दशा और मानसिक हलचल को किस स्वाभाविकता और मार्मिकता से व्यक्त किया गया है—

कर के मीड़े कुसुम लौं, गई बिरह कुम्हिलाइ।
सदा-समीपिनि सखिनु हूँ, नीठि पिछानी जाइ॥
जब जब वै सुधि कीजियै, तब तब सब सुधि जाँहि।
आँखिनु आँखि, लगी रहैं, आँखें लागति नाँहि॥

पर वियोग के उपरान्त बिहारी ने नायक को परदेश से लौटाकर प्रेम का अन्त संयोग में ही किया है। इससे पता चलता है कि उनकी दृष्टि जीवन के सुख-पक्ष की ओर ही थी।

प्रेम के जिस वातावरण का सृजन बिहारी ने किया है, वह आज हमें कुछ विलक्षण लग सकता है। और अधिक अच्छा नाम न मिलने से हम इसे रीतिकालीन प्रेम कहते हैं। हिन्दी-साहित्य में प्रेम की भावना का विकास क्रमशः हुआ है। वीरगाथा-काल में प्रेम उस व्यक्ति के

प्रति उमड़ता दिखाई देता है जो नायिका को स्वयंवर-भूमि या युद्ध-भूमि में तलवार के बल पर जीत सकता था। सन्तों का प्रेम-सम्बन्ध निर्गुण के प्रति रहा। सूफ़ियों ने लौकिक प्रेम के माध्यम से आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना की। तुलसी, सूर तथा अष्टछाप के अन्य कवियों ने लौकिकता से बहुत ऊँचे उठकर भगवान् के चरणों में अपने भाव का निवेदन किया। इधर आधुनिक युग के छायावाद-काल में एक दूसरे ही ढंग से निर्गुण को प्रेम का आलम्बन बना महादेवी आदि ने आत्म-निवेदन किया। और आगे चलकर व्यक्तिगत प्रेम की तीव्र अनुभूति बच्चन और शान्ति मेहरोत्रा में पाई गई। फिर भी हिन्दी साहित्य के आदि युग से लेकर यहाँ तक प्रेम का आलम्बन चाहे बदलता रहा हो; पर ये सारी अभिव्यक्तियाँ हैं सरल ही। केवल हिन्दी के आधुनिकतम काव्य में प्रेम-भावना युग की परिस्थितियों और जीवन के प्रति बदले दृष्टिकोण के कारण उलझन-मय हो गई है, यों अन्य भावनाओं से संघर्ष प्राचीन प्रेम-भावना में भी पाया जाता है; पर वह बहुत सीधा सादा है। अन्तर्द्वन्द्व की कमी बिहारी में भी नहीं, उदाहरण के लिए उनकी नायिका प्रायः लाज और प्यार तथा गुरुजन-परिजन के भय और प्रणय के बीच फँसी रहती है। पर नवीनतम काव्य को छोड़कर मनोवैज्ञानिक उलझनों के सूक्ष्म विश्लेषणों की ओर प्राचीन कवियों का ध्यान गया ही नहीं। इस सारे प्रेम-व्यापार के बीच बिहारी की प्रेम-भावना भिन्न प्रकार की है—लौकिक और स्थूल, पर इस भावना के सबसे प्रौढ़ विश्लेषक और समर्थक भी वे ही हैं। बिहारी रीतिकालीन प्रणयानुभूति के प्रतिनिधि कवि हैं।

बिहारी सतसई में भक्ति की चर्चा होते हुए भी, बिहारी को भक्त नहीं कहा जा सकता। किसी विशेष वाद में उनकी आस्था थी, ऐसा इन दोहों से प्रकट नहीं होता। उन्होंने समान भाव से राम, कृष्ण और नृसिंह को स्मरण किया है। कहीं-कहीं तो पुष्ट तर्कों के आधार पर सगुण से बढ़कर निर्गुण का समर्थन वे कर बैठे हैं। प्रतिबिम्बवाद और अद्वैतवाद दोनों की पुष्टि में भी उन्होंने कुछ-न-कुछ कहा है। नाम-स्मरण पर भी वे जोर देते पाए जाते हैं, ऐसी दशा में पाठक के लिए यह निर्णय करना कठिन है कि उन्हें किस मत के अन्तर्गत वह माने। उनका विशेष झुकाव राधा-कृष्ण की लीलाओं की ओर यों है। भक्तों के समान वे कृष्ण पर विश्वास करते, उनके यश का वर्णन करते और उन्हें उलाहना देते पाए जाते हैं। पर मेरी दृष्टि से बिहारी भक्त नहीं थे, केवल कवि थे। जैसे प्रत्येक महाकवि अपने प्रिय विषय के अतरिक्त अन्य विषयों पर भी समान सामर्थ्य के साथ लेखनी चलाता है, वैसे ही बिहारी ने भी प्रेम के अतिरिक्त भक्ति और नीति पर लिखा। भक्त का हृदय उन्हें प्राप्त हुआ ही न था। राधा और कृष्ण के जीवन को जैसा घोर शृङ्गारी और वासनात्मक उन्होंने चित्रित किया है, उससे तो इस बात में और भी सन्देह नहीं रह जाता। बिहारी अनुराग के कवि थे, विराग के नहीं। भक्तों के हृदय की-सी पवित्रता, आर्द्रता, कोमलता, कातरता, दीनता और भाव-मग्नता उनमें सामान्यतः नहीं पाई जाती—

कीजै चित सोई तरे जिहिं पतितनु के साथ।
मेरे गुन-औगुन-गनन गनौ न गोपीनाथ॥

यह बरिया नहिं और की, तूँ करिया वह सोधि।
पाहन-नाव चढ़ाइ जिहिं कीने पार पयोधि॥
पतवारी माला पकरि और न कछु उपाउ।
तरि संसार-पयोधि कौं, हरि-नावैं करि नाउ॥

मैं समुझ्यौ निरधार, यह जगु काँचौ काँच सौ।
एकै रूपु अपार, प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ॥

प्राचीन कवियों में सेनापति जैसे एकाध कवि को छोड़कर प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन पाया ही नहीं जाता। प्रकृति को कहीं कहीं आध्यात्मिक भाव की व्यंजना के लिए, कहीं रहस्य के लिए, कहीं उपदेश के लिए और कहीं अलंकार-विधान के लिए प्रयुक्त किया गया है। बिहारी ने भी अप्रस्तुत के रूप में प्रकृति से अनन्त मर्म-स्थितियों को चुना; पर सन्तोष की बात है कि षट्ऋतु वर्णन के अन्तर्गत उन्होंने प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करके उसमें व्याप्त अनेक भावनाओं को भी चित्रित किया है। लोक की क्रीड़ा को चित्रित करने के उपरान्त प्रकृति में चलने वाली क्रीड़ा पर भी उनकी दृष्टि गई—

छकि रसाल-सौरभ, सने मधुर माधवी-गंध।
ठौर-ठौर झौंरत झंपत भौंर-झौंर मधु-अंध॥
रनित भृंग-घण्टावली, झरित दान मधु-नीर।
मन्द-मन्द आवतु चल्यौ कुंजर कुंज-समीर॥

प्रकृति और मनुष्य को ये एक-दूसरे के पास लाए और स्थान-स्थान पर उन्होंने यह प्रदर्शित किया कि मनुष्य के व्यवहार का बहुत बड़ा अंश प्रकृति से प्रभावित रहता है। वर्षा और शिशिर दोनों का प्रभाव मानव-हृदय पर देखिए—

पिय-तरसौंहैं मन किए, करि सरसौंहैं नेह।
धर-परसौंहैं ह्वै रहे, झर-बरसौंहैं मेह॥
तपन-तेज, तपु-ताप-तपि, अतुल तुलाई माँह।
सिसिर-सीतु क्यौंहु न कटै, बिनु लपटैं तिय-नाँह॥

प्रकृति सम्बन्धी कुछ चित्र तो बिहारी के ऐसे हैं जो हिन्दी के आधुनिक-काव्य की तुलना में भी कम शक्तिशाली नहीं ठहरते। नीचे के दोहों में जो ग्रीष्म का वर्णन है उसमें प्राचीन-काल के अलंकार-विधान की मार्मिकता और सूक्ष्मता तो है ही, आधुनिक-युग की मूर्तिमत्ता और चेतनता भी विद्यमान है। इन दोनों खण्ड-दृश्यों में प्रकृति की कैसी सजीवता झलक रही है! ग्रीष्म और छाया दोनों ही जैसे यहाँ स्पन्दन और गति से युक्त हो उठे हैं। पहले दोहे में तो प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ही प्रकृति के क्षेत्र से चुने गए हैं। यह विशेषता आधुनिकतम हिन्दी-काव्य में, एक महादेवी की 'दीपशिखा' को छोड़कर शायद ही कहीं पाई जाती हो—

नाहिंन ए पावक प्रबल लुयैं चलैं चहुँ पास।
मानहु बिरह बसंत कैं ग्रीषम लेत उसास॥
बैठि रही अति सघन बन पैठि सदन-तन माँह।
देखि दुपहरी जेठ की छाँहौं चाहति छाँह॥

हास्य बिहारी में नहीं के बराबर है। ढोंग से इन्हें भी चिढ़ थी, इसी से कथा-वाचकों और अधकचरे वैद्यों को लेकर उन्हें ऐसी स्थिति में दिखाया गया है जिससे हँसी आती है। बिहारी निश्चित रूप से नगर के जीवन और नागरिक रुचि के पक्ष में थे। नागरिकों के प्रति गाँववालों के व्यवहार से ये बहुत क्षुब्ध दिखाई देते हैं; अतः जहाँ कहीं हास्य की स्थिति आई

भी है, वहाँ उसमें व्यंग्य के समावेश के कारण और गाँववालों के प्रति थोड़ी हीन-भावना रखने के कारण ऐसे स्थल शुद्ध हास्य के नहीं रह पाए हैं। हमारा अनुमान है कि भारत के गाँवों और वहाँ के निवासियों के स्वभाव का विहारी को बहुत अच्छा अनुभव न था। हास्य के कुछ उदाहरण लीजिए—

बहु धनु लै, अहसानु कै, पारौ देत सराहि।
बैद-बधू, हँसि भेद सौं, रही नाह-मुँह चाहि॥
परतिय-दोषु पुरान सुनि लखि पुलकी सुखदानि।
कसु करि राखी मिश्र हूँ मुहँ-आई मुसकानि॥
कन दैबौ सौंप्यौ ससुर, बहू थुरहथी जानि।
रूप-रहचटैं लगि लग्यौ, माँगन सबु जगु आनि॥

भावना के क्षेत्र से हटकर कवि लोग कभी-कभी अपने जीवन के अनुभवों को भी चित्रित करते देखे जाते हैं। ऐसी बातें इस धारणा को लेकर लिखी जाती हैं कि शेष संसार उनसे लाभ उठावे। मात्र अनुभव को चित्रित करने वाली ऐसी रचनाएँ सूक्तियाँ कहलाती हैं जिनमें बहुतसी नीति की बातें भी सम्मिलित रहती हैं। जहाँ तक होता है बात को सीधे-सीधे कह दिया जाता है। पर तथ्य कैसा ही हो उसे हृदयंगम कराना तो होता ही है; इसी से ऐसी उक्तियों में तर्क और अलंकार के सहारे चिंतन के पल अंकित किए जाते हैं। बहुत सी बातें विहारी ने सज्जन-दुर्जन, गुनी-निगुनी, दाता-सूम आदि को लेकर कहीं हैं। कुछ सूक्तियाँ कला, प्रेम और मनुष्य के स्वभाव को लेकर भी हैं—

मीत, न नीति गलीतु ह्वै जौ धरियै धनु जोरि।
खाए खरचैं जौ जुरैं, तौ जोरियै करोरि॥
कैसैं छोटे नरनु तैं, सरत बड़नु के काम।
मढ़्यौ दमामौ जातु क्यौं, कहि चूहे के चाम॥
बड़े न हूजैं गुननु बिनु बिरद बड़ाई पाइ।
कहत धतूरे सौं कनकु, गहनौ गढ़्यौ न जाइ॥

विहारी की कला हृदय की सहज उपज का परिणाम नहीं। वह अभ्यास-साध्य है। वहाँ अभिव्यक्ति का फूल वैसे नहीं खिलता जैसे वसन्त में डालियों पर फूल खिलते हैं। कवि के भाव को ठीक से समझने के लिए उसकी कला से परिचित होना आवश्यक है। यह कला कई बातों पर निर्भर करती है जैसे (१) रस (२) अलंकार (३) नायिका-भेद (४) शब्द-शक्ति (५) प्रसंग-विधान, और (६) भाषा। पाठक को यदि इनमें से एक का भी अच्छा ज्ञान नहीं है, तो वह विहारी के काव्य-सौन्दर्य से अपरिचित ही रहेगा। उदाहरण के लिए इस दोहे को देखिए जिसका अर्थ इस प्रकार की बातों के ज्ञान के बिना खुल ही नहीं सकता—

लिखन बैठि जाकी सबी, गहि-गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥

विहारी के भाव-पक्ष और कला-पक्ष की सीमाएँ हो सकती हैं और हिन्दी-साहित्य में उनके स्थान पर आलोचकों में मतभेद भी; पर मुझे जो उनके सम्बन्ध में सबसे अच्छी बात लगती है वह यह कि उन्होंने अपने से पूर्व छः सौ वर्ष के काव्य को धर्म के प्रभाव से मुक्त करके जीवन

की ओर मोड़ा। यही काम आज के युग में यदि किसी ने किया होता तो वह 'काव्य में विद्रोह' कहलाता। लौकिक जीवन के एक बड़े पक्ष के सौन्दर्य, क्रीड़ा और आनन्द का ऐसा सजीव वर्णन बिहारी में पाया जाता है, वैसा आज तक के किसी कवि के काव्य में नहीं। यह जीवन कहीं-कहीं गन्दला है, पर धरती का जीवन ऐसा ही है, क्या किया जाय। इतना तो निश्चित ही है कि उनके काव्य का एक ऐतिहासिक महत्त्व है। जैसे चन्दबरदाई, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, हरिश्चन्द्र, मैथिलीशरण गुप्त और जयशंकरप्रसाद के बिना काव्य के विभिन्न युगों का इतिहास नहीं लिखा जा सकता, वैसे ही रीतिकाल के दो सौ वर्ष की कड़ी टूटी हुई दिखाई देगी, यदि उसमें से बिहारी का नाम निकाल दिया जाय तो।

गजानन माधव मुक्तिबोध

५

कामायनी

सभ्यता-समीक्षा और इड़ा

युग तथा साहित्य के घनिष्ठ परस्पर-सम्बन्धों के वास्तविक स्वरूप को समझने की दिशा में प्रयास करते हुए, हमारे दृष्टि-मार्ग में दो विशेष प्रकार का साहित्य उपस्थित होता है। एक वह जिसमें युग-प्रवृत्तियों का मात्र प्रतिबिम्ब हो अर्थात्, आपेक्षिक रूप से, युग-प्रवृत्तियों को जागरूक प्रकार से न किया जाकर, एक विशेष मानसिक निष्क्रियता के वशीभूत हो, मात्र उनका संस्कृत अथवा विकृत प्रतिबिम्ब उपस्थित कर दिया जाता है। दूसरा साहित्य इस प्रकार का होता है कि जिसमें इन युग-प्रवृत्तियों के अभिप्राय, गर्भितार्थ, उनके प्रभावकारी अथवा विनाशकारी आशय-आदि को जागरूक प्रकार से ग्रहण किया जाकर वर्तमान के पार मानव-भविष्य को निहारा जाता है। निश्चय ही, ऐसे साहित्य का उद्देश्य है मानव-चेतना का परिष्कार।

किन्तु, बहुत बार यह भी देखा गया है कि महान्-से-महान् साहित्यकार (जैसे टाल्स्टाय) सारे समाज की चित्रात्मक समीक्षा कर चुकने के बाद, जीवन-सम्बन्धी जिन अन्तिम निष्कर्षों पर पहुँचता है (उनका सर्वमान्य होना या न होना अलग बात है, किन्तु) उनसे डर तो यह हो जाता है कि कहीं वे अन्तिम निष्कर्ष हानि-प्रद तो नहीं है? यह भय स्वाभाविक भी है। समीक्षा जीवनगत तथ्यों की हुआ करती है। अतः, (साहित्य में चित्रात्मक समीक्षा का स्थान बहुत ऊँचा होते हुए भी) समीक्षित तथ्यों के उपरान्त, जब साहित्यकार उन तथ्यों पर आधारित सामान्यीकरणों के क्षेत्र में अपनी स्वभाव-गत तथा प्रभाव-गत प्रवृत्तियों के वशीभूत हो, साहसपूर्ण अथवा दुःसाहसपूर्ण कदम उठाते हुए, अन्तिम निष्कर्षों की ओर दौड़ लगाता है तब उसके चरम-निर्णयों को जरा सावधानी से जागरूकतापूर्वक लेना और उनका उचित विश्लेषण करना एकदम आवश्यक हो उठता है। साहित्य-समीक्षाकार की सफलता, उसके स्वयं के जीवन-विवेक की अनुभव-जन्य व्यापकता के साथ ही, उन तत्त्वों पर मूलतः आधारित है जिन्हें 'दृष्टिकोण' शब्द के अन्तर्गत रखा जा सकता है। चूँकि मानव-चेतना का परिष्कार न केवल साहित्यकार ही करता है, वरन् भौतिक तथा सामाजिक विज्ञानों के अधिकारियों द्वारा भी वह सम्पन्न होता है (उनके सहकार्य के बिना, यह असम्भव भी है) अतएव, समीक्षक के लिए यह देखना आवश्यक हो जाता है कि समीक्ष्य वस्तु और उसके निर्माता के निर्णय, सामान्यीकरण और अन्तिम निष्कर्ष अद्यतन तर्क-शुद्ध और अनुभव-सिद्ध ज्ञान के प्रतिकूल तो नहीं जा रहे हैं? (चूँकि चेतना परिष्कार का सम्बन्ध मानव-स्थिति के उत्थान, उच्चतर रूपान्तर और विकास से है, इसलिए) समीक्षक का दायित्व साहित्यकार के प्रति न्याय, सहानुभूति-औदार्य आदि तक ही सीमित न रहकर, उसके आगे बहुत बढ़ जाता है। यही कारण है कि देश तथा विश्व की वर्तमान स्थिति में, समीक्षक की दृष्टि समीक्ष्य साहित्य के अन्तःसौन्दर्य में ही समाहित न होकर, साहित्यकार के अन्तिम निष्कर्षों की

मंजिल के अन्दर जाकर यह देखने की कोशिश करती है कि क्या यह मंजिल न्यायोचित, उपादेय और लाभप्रद है !!

इस प्रकार के समीक्षा-सम्बन्धी प्रयास 'कामायनी' के लिए तो अत्यन्त उपयुक्त हैं, चाहे वे सफल रहें या असफल। कामायनी में इड़ा, श्रद्धा और मनु को लेकर, प्रसादजी जिन निष्कर्षों पर पहुँचे हैं, उनका क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। पुरुष, स्त्री, व्यक्ति, समाज, सभ्यता, मुक्ति आदि सभी विषय प्रसादजी की विश्लेषणमयी काव्यानुभूति के अन्दर आ जाते हैं।

मुख्य प्रश्न

कामायनी के सम्बन्ध में सबसे बड़ा सवाल है इड़ा के प्रति प्रसादजी के रुख का। पूरी कामायनी में बुद्धि (जिसकी प्रतीक-चरित्र इड़ा है) के बारे में कठोरता बरती गई है। बुद्धि का प्रसंग आते ही, प्रसादजी आलोचनातुर हो उठते हैं। अपनी भूमिका में भी, प्रसादजी ने बुद्धि के विरुद्ध श्रद्धा के प्रति अपने पक्षपात की ओर इशारा कर दिया है। कामायनी के कथानक में भी, इड़ा (न्याय का पक्ष लेते हुए भी) पराजिता बतलाई गई है। स्वयं इड़ा, श्रद्धा के सम्मुख, निविड़ आत्मालोचन से ग्रस्त हो जाती है। इन सभी बातों से, स्वभावतः, निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रसादजी बुद्धिवाद-विरोधी श्रद्धावाद के समर्थक हैं। लेकिन सवाल यह भी है कि बुद्धि और उसके व्यवहार-क्षेत्र को हीन-भाव से देखने के क्या माने हैं ? क्या अपने इस रुख से प्रसाद जी तत्सामयिक सांस्कृतिक विचार-विकास-शृङ्खला के बहुत पीछे की कड़ी की ओर तो नहीं जा रहे हैं ? रवीन्द्र और उनके पूर्व रामकृष्ण-रामतीर्थ, महाराष्ट्र के चिपलूणकर-आगरकर बुद्धि की निर्माणकारी सत्ता को मानते थे। भारत के राष्ट्रीय उत्थान का, रमण और जगदीशचन्द्र बोस और रामानुजन की कीर्तिगाथाओं का, गाँधीवाद-प्रणीत राष्ट्रवाद के भव्य उत्कर्ष का वह काल था। ऐसे समय, नई सभ्यता का निर्माण करने वाली स्वप्न-दर्शी इड़ा के तिरस्कार का अर्थ ? साम्राज्य-वाद-विरोधी राष्ट्रवादी आन्दोलन के रामराज्य के स्वप्न से प्रसाद प्रभावित क्यों नहीं हो रहे थे ? क्या वे राष्ट्र-निर्माण के मानवीय प्रयासों से नाराज होकर इड़ा से विद्रोह कर बैठे थे ? अथवा, इड़ा के पीछे कोई और रहस्य है ?

इड़ा-प्रणीत सभ्यता

एक बात स्पष्ट है। और वह यह कि तत्सामयिक राष्ट्रवादी आन्दोलन की सामाजिक भूमि से, उसकी वास्तविकताओं से, प्रसादजी का आदर्शवाद प्रभावित न था। हाँ, उस सामाजिक राष्ट्र-वादी वास्तविकता का जो उन्होंने विश्लेषण किया वह कामायनी में चित्रित होकर आज भी उतना ही सच है जितना कि प्रसादजी के जमाने में था। निश्चय ही, इड़ा-आगमन-पूर्व मनु के सभ्यता-निर्माण के प्रयास का तथा इड़ा-प्रणीत सभ्यता के ह्रास-मूलक स्वरूप का चित्र प्रसादजी के व्यक्ति-गत अनुभव की कठोर शिला पर आधारित है। अगर यह न होता, तो प्रसादजी विश्लेषणों और सामान्यीकरणों की तीव्रता और प्रचुरता का प्रदर्शन न कर पाते। विश्लेषण और सामान्यीकरण तथ्यों का हुआ करता है। ये तथ्य निश्चय ही लेखक के सामाजिक तथा व्यक्तिगत अनुभवों की सुदृढ़ शिला पर खड़े हुए हैं—वे कल्पना-मूलक नहीं हैं। अगर वे कल्पना-मूलक होते तो न उस विश्लेषण और न उस सामान्यीकरण में गहराई आ पाती, न आवेग, न तीव्रता ! किन्तु, प्रसादजी की विश्लेषणात्मक अनुभूति प्रतीकों, उपमाओं, चित्रों आदि के तीव्र आवेग के बीच, ऐसे-ऐसे सत्य सामान्यीकरणों को जन्म देती है कि दंग रह जाना पड़ता है। मजा यह है कि वे

सामान्यीकरण, निष्कर्ष तथा निर्णय हमारे देश तथा विश्व की वर्तमान स्थिति में और भी अधिक सत्य हो गए हैं। कामायनी में वर्णित सभ्यता-प्रयासों के पीछे, प्रसादजी का अपना जीवनानुभव, अपने युग की वास्तविक परिस्थिति, अपने समय की सामाजिक दशा बोल रही है यह निर्विवाद है।

कामायनी में इड़ा के स्वरूप की पहचान उस सभ्यता के रूप के विश्लेषण द्वारा भी हो सकती है, जिसके निर्माण में इड़ा का भी योग था। कामायनी में अंकित, इस सभ्यता-विश्व की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—विभेद, वर्ग-संघर्ष, शासनादेश-घोषणा, विजयों की हुँकार, युद्ध, रक्त-अग्नि की वर्षा, भय की उपासना, 'प्रणति भ्रान्त', 'भीति-विवश कम्पित' होकर काम करते जाना, भूल से विकल दलित, 'राष्ट्र' के भावों का नियमों में रूपान्तर, नियमों का दण्डों में रूपान्तर, और दण्डों के कारण, सबका कराहना नियम-स्रष्टाओं द्वारा आतंक-विप्लवों की सृष्टि, सुविभाजनों का विषम होना, नियमों का नित्य टूटना और बनना, अन्धकार में दौड़, विनाश का मुख हमेशा खुला होना, मस्तिष्क का हृदय से विरोध, ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया में परस्पर-विरोध-वैषम्य, श्रद्धा का अन्ध-श्रद्धा में रूपान्तर (श्रद्धा वंचक बनकर अधीर, मानव-सन्तति ग्रह-रश्मि-रज्जु से भाग्य बाँध पीटे लकीर) दलित दारिद्रय, कलह, असफलता-मूलक आँसू, अहंकार, दंभ, कष्ट, सन्ताप और मृत्यु इत्यादि।

प्रसादजी द्वारा वर्णित यह सभ्यता शापग्रस्त सभ्यता है (देखिए, इड़ा सर्ग में शाप-वाणी)। इस सभ्यता के विष-बीज मनु के इड़ा-आगमन-पूर्व प्रारम्भिक प्रयासों में लक्षित हो चुके थे। इस ह्रास-मूलक सभ्यता के प्रधान कारण ये हैं—(१) विभेद, वर्गों की खाई (२) शासन-कर्ता की आतंकवादी नीति, "भय की उपासना" और सत्तावाद, (३) "श्रम-भाग वर्ग बन गया जिन्हें, अपने बल का है गर्व उन्हें" (४) बनावटी नियम, कृत्रिम सीमाएँ और दण्ड (५) शोषण तथा दारिद्रय।

इस सभ्यता का, व्यक्तिगत मानसिक स्तर पर, इस प्रकार प्रभाव है—(१) मनुष्य का "कृत्रिम स्वरूप" (२) ज्ञान, इच्छा और क्रिया में परस्पर विरोध-विषमता (३) दंभ, लालसा, असफलता, आँसू, अहंकार आदि-आदि।

प्रसादजी मूलतः यह मानते हैं कि सामंजस्य-विरोधी विघटन की प्रक्रिया, जो सामाजिक स्तर पर वर्ग-विभेद की खाई के रूप में कार्य कर रही है, ठीक वही प्रक्रिया व्यक्तिगत स्तर पर भी गतिमान है। किसी "संकुचित असीम अमोघ शक्ति की भेद से भरी भक्ति" ही यह विघटन की प्रक्रिया है, जो जीवन के हर क्षेत्र में सक्रिय है। प्रसादजी विघटन की इस प्रक्रिया को मूलतः (१) वर्ग-भेद-वर्ग-संघर्ष (२) अहंकार मानते हैं।

सारी कामायनी में नवीन सभ्यता के उत्कर्ष, सुखोल्लास, और सफलताओं पर कोई सर्ग नहीं। श्रीवृद्धि और विज्ञानोन्नति, और सत्ता ये चार बातें नई सभ्यता की सफलताओं में गिनाई जा सकती हैं। किन्तु अपने जन्म से ही यह बालक रोग-ग्रस्त रहा। प्रसादजी बार-बार यह कहते हैं कि यह समाज विनाश के मुँह में चला जा रहा है।

प्रसादजी की सभ्यता-समीक्षा के प्रधान तत्व ये हैं—(१) वर्ग-भेद का विरोध और भर्त्सना, अहंकार की निन्दा। यह प्रसादजी की प्रगतिशील प्रवृत्ति है। (२) शासक-वर्ग की जन-विरोधी आतंकवादी-नीतियों की तीव्र निन्दा। यह भी प्रगतिशील प्रवृत्ति है (३) वर्ग-भेद का विरोध करते

हुए भी, मेहनतकशों के वर्ग-संघर्ष का तिरस्कार—यह एक प्रतिक्रियावादी तत्व है। (४) वर्ग-हीन सामंजस्य और समरसता का अमूर्त आदर्शवाद—यह तत्व, अपने अन्तिम अर्थों में, इसलिए प्रतिक्रियावादी है कि (क) वर्ग-वैषम्य से वर्ग-हीनता तक पहुँचने के लिए उसके पास कोई उपाय नहीं। इस उपाय-हीनता का आदर्शीकरण है आदर्शवादी-रहस्यवादी विचारधारा (ख) इस उपाय-हीनता का एक अनिवार्य निष्कर्ष यह भी है कि वर्तमान वर्ग-वैषम्यपूर्ण अराजक स्थिति चिरजीव है। (ग) इस यथार्थ की भीषणता में अगर कुछ कमी की जा सकती है तो वह शासक की अच्छाई और उसके उदार दृष्टिकोण द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है। श्रद्धा अपने पुत्र को इड़ा के पास इसीलिए रखती है। (घ) इस विचार-धारा के द्वारा, यथार्थ और आदर्श के बीच अनुल्लंघनीय खाई पड़ जाती है।

ध्यान रहे कि प्रसादजी के सम्मुख उनके अपने 'आज' की ही दुनिया थी। वे इस 'आज' की वास्तविकताओं से इतने ज्यादा परिचित थे कि वे स्वयं भारतीय कीर्ति के उद्‌गाता होकर भी, राष्ट्रीय उत्थान और साम्राज्यवाद-विरोधी वायुमण्डल के बावजूद, इस बात को कतई न भूल सके कि यह नवीन पूँजीवादी समाज और राष्ट्र भयानक रूप से रोगग्रस्त हैं। इड़ा सर्ग की शापवाणी सुनिये। यह शापवाणी सन् १९५२ की वास्तविकताओं को भी ठीक चित्रित करती है—सिवाय एक बात के। नई ऐतिहासिक शक्तिसम्पन्न, विकासमान श्रमिक वर्गों की बल-वृद्धि और आत्म-विश्वास सम्बन्धी क्रान्तिकारी प्रवृत्ति वे देख न सके। उनके जमाने में सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में, इस क्रान्तिकारी प्रवृत्ति का कोई निर्णायक (और व्यापक) प्रभाव भी न था। प्रसादजी की महत्ता इसी में है कि उन्होंने नवीन राष्ट्रीय पूँजीवादी यथार्थ के ह्रासग्रस्त स्वरूप की तीव्रतम शब्दों में निन्दा की। भारतीय समाज के अन्दर, मार्क्सवादी विचार-धारा का उनके जमाने में कोई निर्णायक प्रभाव न होने के कारण, तथा—तत्कालीन सामाजिक विकास-स्तर की सीमाओं से ग्रस्त होकर, वे इस वर्ग-वैषम्यपूर्ण अराजक भयानकता के विश्व को चिरन्तन मान बैठे।

इड़ा का स्वरूप

ऐसी सभ्यता की फिलासफी की एक प्रतीक इड़ा, मनु के अतिचारी कार्यों की न्यायपूर्ण भर्त्सना के बावजूद, (और अपनी निविड़ आत्म-आलोचना के बावजूद) प्रसादजी की अन्तिम सहानुभूति खो बैठी। यह इड़ा बुद्धि की प्रतीक नहीं। (प्रसादजी ने उसे बुद्धि का प्रतीक-चरित्र माना है) वह तो पूँजीवादी समाज की मूल विचार-धारा की प्रतीक है। इड़ा बुद्धि-प्रधान अवश्य है। वह विज्ञानोन्नति और वर्ग-विभाजन के आधार पर, नवीन सभ्यता खड़ी करती है। जीवन के लिए संघर्ष (struggle for existence) और योग्यतम की विजय तथा शेष का तिरोधान (survival of the fittest) उसका प्रमुख सिद्धान्त है। इस संघर्ष को वह 'चिति-केन्द्रों का संघर्ष' कहती है। यह संघर्ष, इड़ा के अनुसार, लोगों को आपस में मिला देता है (लोग संगठित हो जाते हैं) किन्तु, इस संघर्ष के कारण, व्यक्ति-चेतना राग पूर्ण होकर भी द्वेष-पंक में सन जाती है, तथा वह गिरती पड़ती अपनी मंजिल की ओर चली चलती है। यही जीवन-उपयोग है, यही बुद्धि-साधना है; और अपना जिसमें श्रेय हो, वही सुख की आराधना है (देखिए—संघर्ष सर्ग, पृष्ठ २००-२०१)

इड़ा स्वयं भी रहस्यवादी है। वह 'जीवन-संघर्ष में योग्यतम की विजय' वाले सिद्धान्त को विश्व का चिरन्तन मूल नियम मानती है। किन्तु, (पूँजीवादी) नियम-विधान के प्रतिकूल जाने

वाले के लिए, उसके मन में कोई सहानुभूति नहीं। वह यह नहीं समझ पाती कि वर्ग-भेद के आधार पर उसके 'सुविभाजन विषम' क्यों हो गए हैं और नियम क्यों टूटते हैं और नये क्यों बन जाते हैं। वह अपनी अवनति, अपना ह्रास स्वीकार करती है और श्रद्धा को अमूर्त समरसता का सिद्धान्त मान लेती है।

निश्चय ही, श्रद्धा और प्रसादजी 'जीवन-संघर्ष में योग्यतम की विजय' के सिद्धान्त को बिलकुल नहीं मानते। यह एक घनघोर प्रतिक्रियावादी मान्यता है, जो मनुष्यता के मानवीय स्वरूप के एकदम विपरीत है। वह सिद्धान्त स्वार्थ-लोलुप साम्राज्यवादी पूँजीवाद का वैचारिक अस्त्र है। इस वैचारिक मनोभूमि से ग्रस्त इड़ा और उसकी नवीन सभ्यता श्रद्धा और प्रसादजी के लिए अत्यन्त गर्हणीय है। किन्तु, अपनी उपायहीनता के कारण, इस सभ्यता को उन्हें चिरन्तन मान लेना पड़ता है। उसकी विषमता और सन्ताप को कम-से-कम करने के लिए, अच्छे शासक की जरूरत है। सो, श्रद्धा अपना पुत्र इड़ा को सौंप देती है। वर्ग-संघर्ष के प्रति तिरस्कार का भाव रखते हुए भी, श्रद्धा वर्गहीन सामंजस्यपूर्ण समाज का समर्थन करती है, किन्तु इड़ा का सामंजस्य वर्ग-मैत्री के आधार पर स्थित है। (इस अर्थ में, इड़ा का चरित्र श्रद्धा से हजार गुना प्रतिक्रियावादी है)।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह बात स्पष्ट हो गई है कि श्रद्धा के इड़ा-विरोध का अर्थ अ-बुद्धिवाद नहीं, न बुद्धि-विरोधीवाद है। इड़ा में निर्माणात्मक प्रतिभा होने के बावजूद, उसके सिद्धान्त शुद्ध पूँजीवादी प्रतिक्रियावादी हैं—जिसे श्रद्धा ही क्या, कोई भी मानववादी स्वीकार नहीं कर सकता। अतः, ऐसी इड़ा का तिरस्कार कर, प्रसादजी अपने युग-विचारों को पीछे की ओर नहीं ले जा रहे थे, वरन् वे, वास्तविकताओं के विश्लेषण के द्वारा, हिन्दी-भाषा-भाषी विश्व के ज्ञान-कोष में वृद्धि ही कर रहे थे।

किन्तु, इड़ा को बुद्धि-तत्व का प्रतीक मानकर तथा श्रद्धा को श्रद्धा-तत्व का प्रतीक मानकर, प्रसाद ने जिस प्रकार भ्रम-प्रसार किया वह वस्तुतः अत्यन्त शोचनीय है, विशेषकर इसलिए कि हिंदी जगत् में बुद्धि-विरोधी श्रद्धावाद को भारतीय परम्परा का नाम देकर जो एक प्रतिक्रिया-वायुमण्डल तैयार किया गया, उसके फलस्वरूप हिन्दी के प्रतिक्रियावादी क्षेत्रों में ही कामायनी अधिक लोकप्रिय हो सकी, और उसके अन्तर्गत प्रखर प्रगतिशील तत्वों के प्रति पूर्ण उपेक्षा बरती गई।

क्रान्तिकारी-शुद्ध वैज्ञानिक विचारधारा के अभाव की स्थिति में, साहित्यकार किस प्रकार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से ठीक उसी घनघोर वास्तविकता से समझौता कर लेता है, जिस वास्तविकता का वह भयानक शत्रु है, इसका उदाहरण है स्वयं श्रद्धा और उसके कल्पक-निर्माता प्रसाद जी। मनु-पुत्र को इड़ा के पास सौंपना, और स्वयं हिमालय पर जाकर अमूर्त समरसता और सामंजस्य के वातावरण में रहना क्या आशय रखता है? यदि प्रसादजी के पास युगान्तरकारी वैचारिक अस्त्र होते, तो श्रद्धा के सम्मुख आत्म-आलोचन-ग्रस्त इड़ा के मन को, वैचारिक ऊहापोहों के द्वारा ऐसे स्तर पर भी पहुँचाया जा सकता था, जहाँ से वर्ग-विभाजन-हीन नवीन लोक-राज्य और नवीन जन-सभ्यता के सिंहद्वार की ओर जाने वाले प्रशस्त क्रान्तिकारी पथ के दर्शन हो सकते थे। और मनु-सहित इड़ा-श्रद्धा उस राह पर चल सकते थे। ध्यान रहे कि छायावादी काव्य में कामायनी ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जो समाज-नीति और राजनीति के क्षेत्र में, नये साहस प्रयासों को लेकर निर्द्वंद्व रूप से आगे बढ़ता है। अतः उपरिलिखित मन्तव्य उसके लिए अत्यन्त आवश्यक है।

गोपालकृष्ण कौल

६

गोदान

: १ :

साहित्य में कभी-कभी ऐसी कृतियों का सृजन होता है जो साहित्य के इतिहास की धारा के प्रवाह का रुख ही बदल देती हैं; जो अपने युग-जीवन का प्रतिनिधित्व करती हैं और साथ ही अपने प्रभाव से नये युग के द्वार भी खोलती हैं। प्रेमचन्द का 'गोदान' भी हिन्दी-साहित्य में एक ऐसी ही युग-प्रवर्तक रचना है। जैसे हिन्दी-साहित्य के इतिहास में चन्दबरदाई का 'पृथ्वीराज रासो', तुलसी का 'रामचरितमानस', सूरदास का 'सूरसागर', बिहारी की 'सतसई', भूषण की 'शिवा-बावनी' और स्फुट रूप से लिखी हुई कविताएँ, और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटक अलग-अलग सीमा चिह्न कायम करते हुए नये-नये युगों का उद्घाटन करते हैं; इसी प्रकार प्रेमचन्द का 'गोदान' भी बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध काल में अपने युग का अग्रदूत ही नहीं, नये युग का सूत्रधार भी है। यदि चन्द से लेकर प्रेमचन्द तक हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्तियों, विषय-वस्तु और रूपविधानों, साहित्य के आलम्बनों और उपकरणों का विस्तृत अध्ययन किया जाय तो प्रेमचन्द का कृतित्व कई बातों में असाधारण और क्रान्तिकारी प्रतीत होगा। प्रेमचन्द से पूर्व के अधिकांश हिन्दी साहित्य के संस्कार, आलम्बन और उपकरण सामन्ती उच्चवर्ग की सीमाओं में घिरे हुए हैं। काव्य का आलम्बन चाहे योद्धा हो या विलासी, चाहे धार्मिक हो या भक्त, और चाहे ईश्वर हो या देवता—सबका जीवन-व्यापार, आदर्श और मर्यादाएँ सामन्ती उच्चवर्ग के विभिन्न स्तरों से ग्रस्त हैं; उनमें देश-काल के व्यवधानों से कुछ रूप-भेद हो सकते हैं, किन्तु सामान्य जनता—कृषक और श्रमिकों—को काव्य का आलम्बन नहीं चुना गया; उनके जीवन-व्यापार से साहित्य में सजीवता नहीं पैदा हुई। तुलसी और सूर के काव्यों में जो लोक-जीवन की छाया मिलती भी है तो वह सामन्ती आदर्शों को उभारकर सामने लाने के लिए शृङ्गारिक उपकरण के रूप में या चमत्कार पैदा करने वाली विरोधी पृष्ठभूमि के रूप में। किन्तु प्रेमचन्द ने युग-जीवन से प्रेरणा लेकर सामान्य जनता और किसानों के देहाती जीवन को अपने साहित्य का आलम्बन बनाया; उन्होंने भारत की अस्सी प्रतिशत जनता की मूक वाणी को अपनी रचनाओं में मुखरित किया। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में वह एकदम नया क्रान्तिकारी कदम था।

: २ :

प्रेमचन्द ने कहानी से पहले उपन्यास लिखना शुरू किया था। उस समय वह उर्दू में लिखते थे। उन्होंने स्वयं लिखा है—

"मैंने पहले-पहल १९०७ में गल्प लिखना शुरू किया। डॉ० रवीन्द्रनाथ के कई गल्प मैंने अँग्रेजी में पढ़े थे; जिनका उर्दू अनुवाद कई पत्रिकाओं में छपवाया था। उपन्यास तो मैंने

१६०१ ही से लिखना शुरू किया। मेरा एक उपन्यास १६०२ में निकला और दूसरा १६०४ में...।"

इस प्रकार प्रेमचन्द की रचनाओं का समय बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के लगभग पैंतीस वर्ष है। इस समय भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का राजनैतिक विकास हो रहा था। ब्रिटिश-साम्राज्य के विरुद्ध जन-भावना का विरोध धीरे-धीरे तीव्र होता जा रहा था। सन् १६०८ में लोकमान्य तिलक की गिरफ्तारी के विरोध में हुई बम्बई के मजदूरों की हड़ताल की देश-भर में चर्चा हुई थी। उसके बाद भारतीय राजनीति में गांधीजी का तीव्र गति से प्रवेश हुआ और उनकी वाणी का प्रभाव देश-भर में फैल गया। सन् १६२० के सत्याग्रह आन्दोलन में प्रेमचन्द ने भी सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। इस कार्य की प्रेरणा उन्हें गांधी की वाणी से ही मिली थी। उन्होंने लिखा है—

"...यह सन् १६२० की बात है। असहयोग-आन्दोलन जोरों पर था। जलियाँवाला बाग का हत्याकाण्ड हो चुका था। उन्हीं दिनों महात्मा गांधी ने गोरखपुर का दौरा किया। गाजी मियाँ के मैदान में अच्छा प्लेटफार्म तैयार किया गया। दो लाख से कम का जमाव न था। क्या शहर, क्या देहात, श्रद्धालु जनता दौड़ी चली आती थीं। ऐसा समारोह मैंने अपने जीवन में कभी न देखा था। महात्माजी के दर्शनों का प्रताप था कि मुझ जैसा मरा हुआ आदमी भी चेत उठा। उसके दो ही चार दिन बाद मैंने अपनी बीस साल की नौकरी से स्तीफा दे दिया।"

प्रेमचन्द की कहानियों और उपन्यासों में राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रभाव स्पष्ट हैं। उनमें गांधीवादी असहयोग-आन्दोलन, स्वदेशी-आन्दोलन, विदेशी वस्त्र-बहिष्कार, मद्यनिषेध, सरकारी पदों का त्याग, नारी-जागरण आदि का चित्रण मिलता है। फिर भी प्रेमचन्द उस समय के राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करने वाले राजनीतिक दलों की नीति से असन्तुष्ट थे। सन् १६२३ में 'ज़माना' अखबार के सम्पादक को एक पत्र में उन्होंने लिखा था—

"आप ने मुझसे पूछा है मैं किस पार्टी के साथ हूँ, मैं किसी पार्टी में नहीं हूँ। इसलिए कि इस वक्त दोनों में कोई पार्टी असली काम नहीं कर रही है। मैं उस आने वाली पार्टी का मेम्बर हूँ, जो आवाम-अलनास की सियासी तालीम को अपना दस्तूरुल-अमल बनाएगी।"

इस असन्तोष का कारण था। प्रेमचन्द देख रहे थे कि उस समय का राष्ट्रीय-आन्दोलन विदेशी हुकूमत से राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त करने का आन्दोलन है; वर्ग-विभाजित समाज में श्रमिकों और किसानों का शोषण तो जारी ही रहेगा। क्योंकि इस आन्दोलन में जो भी व्यक्ति विदेशी हुकूमत से लोहा लेने को तैयार था, वह राष्ट्रीय-आन्दोलन का एक अंग बन जाता था; फिर यह नहीं देखा जाता था कि वह किस वर्ग का है, शोषित है या शोषक। किन्तु प्रेमचन्द को यह कमी खटकी थी और उन्होंने अपनी रचनाओं में राष्ट्रीय-आन्दोलन की झाँकियों के साथ-साथ महाजनी सभ्यता और वर्ग-भेद-जन्य शोषण के भी यथार्थ चित्र खींचे हैं। उनकी प्रेरणा को स्रोत केवल गांधीवादी राष्ट्रीय-आन्दोलन ही नहीं, रूस की क्रान्ति भी थी। 'प्रेमचन्द घर में' पुस्तक में श्रीमती शिवरानी प्रेमचन्द ने लिखा है—

"मैं बोली—जब स्वराज्य हो जायगा, तब क्या शोषण बन्द हो जायगा?

आप बोले—थोड़ा-बहुत तो हर जगह होता है। यही शायद दुनिया का नियम हो गया है कि कमजोर का शोषण बलवान करें। हाँ, रूस है, जहाँ कि बड़ों को मार-मार कर दुरुस्त

[illegible] हो गया, अब वहां गरीबों को आनन्द है। शायद यहाँ भी कुछ दिनों के बाद रूस जैसा हो।

मैं बोली—क्या आशा है कुछ?

आप बोले—अभी तो कोई आशा नहीं।

मैं बोली—मान लो स्वराज्य हो जाय, तब आप किस का साथ देंगे?

आप बोले—मजदूरों और काश्तकारों का। मैं पहले ही सब से कह दूँगा कि मैं भी मजदूर हूँ। तुम फावड़ा चलाते हो, मैं कलम चलाता हूँ। हम दोनों बराबर हैं।

× × ×

मैं बोली—तो रूस वाले यहाँ भी आयेंगे?

वह बोले—वे यहाँ नहीं आयेंगे। इन्हीं लोगों में यह शक्ति आएगी। वह हमारे सुख का दिन होगा। तब यहां मजदूरों और काश्तकारों का राज होगा। मेरा ख्याल है कि आदमी की जिन्दगी औसतन दूनी हो जायगी।"

ऊपर के विचारों से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द राजनीतिक स्वाधीनता के साथ-साथ शोषण-हीन किसान-मजदूरों के राज्य की भी कल्पना करते थे। वह इसे ऐसा राज्य समझते थे, जिसमें आदमी की उम्र ही दूनी हो जाती। इसलिए प्रेमचन्द को गांधीवादी लेखक कहना, प्रेमचन्द को गलत समझना है। वह न तो गांधीवादी थे और न मार्क्सवादी, वह सही मानों में जनवादी कलाकार थे, जो साक्षात् जीवन-अनुभव से अपना दृष्टिकोण बनाता है; अन्याय और शोषण का विरोध करता है और जिसकी सजग सहानुभूति जनता—श्रमिकों और किसानों के साथ होती है; जो मानवता की व्यापकता को समझते हुए भी मानवता की वर्ग-जन्य संकीर्णता का विरोध करता है।

: ३ :

जिस समय प्रेमचन्द ने साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया, उस समय की साहित्यिक-परम्परा सामन्ती राष्ट्रीयता को अपने साथ भारतेन्दुयुग की विरासत के रूप में ग्रहण किए हुए नई पूँजीवादी राष्ट्रीयता के युग में प्रवेश कर रही थी। साहित्य की प्रवृत्ति और भावधारा कहीं आदर्शवादी और कहीं रोमांटिक थी। आदर्शवाद पर सामन्ती राष्ट्रीयता का प्रभाव था और रोमांटिक भावधारा पर पूँजीवादी व्यक्ति वैचित्र्य और वैयक्तिक-असन्तोष का प्रभाव था। कविता में छायावाद (रोमांटिसिज्म) का उदय हो रहा था और गद्य में आदर्शवादी सुधारवाद का। तत्कालीन ऐतिहासिक नाटकों में राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक गौरव की भाव-भूमि रहते हुए भी कथावस्तु और पात्रों का चुनाव इतिहास में प्राप्त सामन्ती और उच्च वर्ग से ही किया गया है; उनके जीवन-व्यापार में ही वर्तमान राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओं का समाधान खोजा गया है। यही नहीं, प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती हिन्दी उपन्यासों में—चाहे वे तिलस्मी हों या जासूसी, सामन्ती प्रेमकथा के हों या सुधारवादी—नायक और प्रधान चरित्र राजा-महाराजा या ताल्लुकेदार के खानदान का ही है और उनका जीवन-चित्रण बड़ा यान्त्रिक रूढ़िवादी और रीतिवादी है। हिन्दी के सर्वप्रथम उपन्यास 'परीक्षा-गुरु' से 'भूतनाथ' तक हिन्दी का औपन्यासिक शिल्प इसी रूढ़ि-मार्ग पर आगे बढ़ रहा था। उस समय का पाठक 'चन्द्रकान्ता सन्तति', 'नरेन्द्रमोहिनी' और

'भूतनाथ' का पाठक था; उसके लिए कथा-साहित्य मनोरंजन का साधन था। प्रेमचन्द यदि इस प्रवाह में बह जाते तो आज हिन्दी-साहित्य का रूप ही दूसरा होता। किन्तु वह उस प्रवाह के द्रष्टा थे और उन्हें उसकी अपर्याप्तता का भान हो चुका था। वह देख रहे थे कि तूफान की गति से बदलती हुई सामाजिक चेतना और राजनीतिक जागरण के स्तर किस तरह तत्कालीन राष्ट्रीयता के आवरण में आच्छादित आर्थिक शोषण और वर्ग-भेद के मूलाधारों को उद्घाटित करते जा रहे हैं। सन् १९३६ में 'भारतीय प्रगतिशील लेखक-सङ्घ' के अध्यक्षपद से दिये गए अपने भाषण में उन्होंने लिखा था—

"हमने जिस युग को पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब नहीं था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी करके उसमें मनमाने तिलस्म बाँधा करते थे। कहीं फिसानये-अजायब की दास्तान थी, कहीं 'बोस्ताने-ख्याल' की और कहीं 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत रस-प्रेम की तृप्ति; साहित्य का जीवन से लगाव है, यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है, जीवन जीवन; दोनों परस्पर-विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं। कवियों पर व्यक्तिवाद का रङ्ग चढ़ा हुआ था। प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था, और सौन्दर्य का आँखों को।"

इस प्रकार प्रेमचन्द ने अपने पूर्व के और सम-सामयिक साहित्य-प्रवाह में अपर्याप्तता, जीवन का असाम्पर्क्य और रूढ़ि के शिलाखण्डों को देखा था, और देखा था कि जन-मानस की अनन्त मरु-प्यास की तृप्ति इस जीवनहीन प्रवाह से नहीं होगी। यह सब उन्होंने जीवन-अनुभव और जन-दर्शन की आँखों से देखा था, किसी दृष्टिकोण का चश्मा लगाकर नहीं; उनके दृष्टिकोण का आधार ही जनता का सतत प्रवाही जीवन-दर्शन था, जिसमें असन्तोष की आग, रूढ़ियों की घुटन, जातीय परम्पराओं के प्रति अन्ध आस्था और बदलते हुए समय के नवनूतन के प्रति कौतूहलपूर्ण जिज्ञासा होती है। प्रेमचन्द ने अपने समय की शिल्प-रूढ़ियों और भाव-रूढ़ियों की संकीर्णताओं को छिन्न-भिन्न किया; वह न तो तत्कालीन आदर्शवाद के पथगामी बने और न रोमांटिसिज्म से अनुरक्त हुए। यद्यपि उनकी प्रारम्भ की रचनाओं में आदर्शवाद का प्रभाव है, फिर भी उनका आन्तरिक झुकाव सामाजिक यथार्थवाद की ओर था। उन्होंने अपने विचारों में कई स्थानों पर यथार्थ का विरोध किया है, इसका कारण उनका अपना अन्तर्विरोध था, जिसने उनमें प्रकृतवाद (नेचुरलिज़्म) को ही यथार्थवाद समझने का भ्रम पैदा कर दिया था और जिसे वह 'नग्न यथार्थ' के नाम से पुकारते थे। उन्होंने जैनेन्द्रजी को एक पत्र में लिखा था—

"...Realist हम में से कोई भी नहीं है। हममें से कोई भी जीवन को उसके यथार्थ रूप में नहीं दिखाता बल्कि उसके वांछित रूप ही में दिखाता है। मैं नग्न यथार्थवाद का प्रेमी नहीं हूँ।"

तत्वों को यथार्थवाद के साथ जोड़कर, अपने युग के आदर्शवादी प्रभाव की प्रतिक्रिया का परिचय दिया है किन्तु उनका आदर्शवाद यथार्थ की पृष्ठभूमि पर खड़ा है।

उन्होंने अपने प्रारम्भ के कई उपन्यासों में समस्याओं को प्रस्तुत तो यथार्थवादी ढंग से किया है किन्तु उनका समाधान अस्थिर, आदर्शवादी है जिसे राजनीतिक दृष्टि से गांधीवादी प्रभाव भी कहा जाता है। समस्याओं के आदर्शवादी समाधान को प्रेमचन्द ने दो रूपों में प्रस्तुत किया है, कहीं तो संस्थाओं और आश्रमों द्वारा और कहीं व्यक्ति से ही हृदय परिवर्तन कराकर। इन समाधानों में उनकी अपनी आस्तिक भावनाओं और अपने युग के गांधीवादी राष्ट्रीय आन्दोलन की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। यद्यपि तमाम असंगतियों और कमजोरियों के इन समाधानों में सामाजिक चेतना प्रधान है, वे व्यक्ति-प्रधान नहीं; क्योंकि समाज से पलायन करके किसी हल को पेश करने की कोशिश प्रेमचन्द ने नहीं की है। साथ ही उन्होंने इस प्रकार के समाधानों को प्रस्तुत करने के आदर्शवादी जोश में कहीं भी समस्याओं और जीवन के यथार्थ चित्रण को अयथार्थ या आदर्शवादी बनाने की जानबूझकर कोशिश नहीं की है। जैसे जमींदारों के किसानों पर, अछूतों पर सवर्णों के, महाजनों के, गरीबों पर होने वाले अत्याचार को सिर्फ इसलिए कम करके चित्रित करने की आदर्शवादी कमजोरी उन्होंने नहीं दिखाई कि वह वर्ग-संघर्ष जन्य क्रान्ति के वैज्ञानिक विकास को नहीं जान पाए थे और सहयोग एवं समझौते की बात सोचते थे। उनके ऐसे समाधान और परिणाम उनके उपन्यासों की यथार्थवादी पृष्ठभूमि को कभी विकृत नहीं करते थे। वह मूलतः यथार्थवादी कलाकार थे किन्तु उनपर प्रभाव अपने युग के आदर्शवाद का था। जिस उपन्यास में वह समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं करते और यथार्थ समस्याओं को ही चित्रित करके सन्तोष कर लेते हैं या समाधान या परिणाम उस समस्या की यथार्थता से स्वयं ध्वनित होने लगता है, उस उपन्यास में वह अपने युग के एकमात्र यथार्थवादी कलाकार के रूप में सामने आते हैं। या यों कहा जा सकता है कि समस्याओं को यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत करने एवं जन-जीवन का यथार्थ चित्रण करने में वह सफल थे।

प्रेमचन्द ने इस यथार्थ और आदर्श की समस्या को 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' के माध्यम से सुलझाया, किन्तु इसे 'यथार्थ की भयंकरता से प्रेमचन्द का समझौता' नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अपनी रचनाओं में—उपन्यासों में 'वरदान' से 'गोदान' तक और कहानियों में प्रारम्भ की कहानियों से 'कफन' तक—क्रमशः उनकी कला का विकास यथार्थवाद की ओर ही हुआ। जैसे कहानियों में 'कफ़न' उनकी पिछली कहानियों की अपेक्षा अधिक यथार्थवादी है, वैसे ही उपन्यासों में 'गोदान'। 'गोदान' न केवल हिन्दी कथा-साहित्य का एक सीमाचिह्न है, बल्कि प्रेमचन्द की कला के विकास का भी सीमाचिह्न है। यह विकास भारतीय जीवन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में समझौता परस्त नहीं, अभूतपूर्व और साहित्य के क्षेत्र में क्रान्तिकारी है।

'गोदान' के पूर्ववर्ती हिन्दी कथा-साहित्य और परवर्ती कथा-साहित्य की विकास-धाराओं के अध्ययन से पता चलता है कि 'गोदान' आधुनिक हिन्दी-साहित्य में वस्तु और शिल्प, विचार और विवेचन, जीवन और वास्तविकता, और यथार्थ और आदर्श तथा भाषा की दृष्टि से युग-सन्धि स्थापित करने वाली महान् कला सृष्टि है, वह अपने युग को ही केवल प्रतिबिम्बित नहीं करती, बल्कि भावी युग की भूमिका भी है। वह साहित्य के सामन्ती संस्कारों, रीति रूढ़ियों, संस्कृतनिष्ठ क्लिष्ट भाषा की कृत्रिमताओं के प्रति साहित्यिक विद्रोह का प्रतीक है, उसमें सर्वप्रथम

भारतीय जन-जीवन की यथार्थ झाँकी अपनी तमाम दुर्बलता और सबलता, परम्परा और जातीयता, संस्कृति और सामाजिकता के साथ वर्ग-भेद जन्य शोषण और अत्याचार और उनके विरुद्ध जीवन-संघर्ष के सुख-दुख, आघात-प्रतिघातों एवं उत्थान-पतनों के विविध रूपों में चित्रित हुई है, जिसकी मिसाल 'गोदान' के पूर्ववर्ती कथा-साहित्य में तो मिलती ही नहीं; परवर्ती कथा-साहित्य में भी इस यथार्थवादी परम्परा को और अधिक विकसित करने वाली प्रतिभा की खोज करना कठिन है।

'गोदान' भारतीय ग्रामीण जीवन का यथार्थ चित्रण है। इसका नायक होरी अवध के एक गाँव का किसान है किन्तु वह केवल व्यक्ति नहीं, भारतीय किसान के जीवन का प्रतीक है, वह व्यक्ति होते हुए भी एक वर्ग है, उसके व्यष्टि-जीवन में भारतीय कृषक की परम्पराओं, सांस्कृतिक विरासतों, उसकी रूढ़ियों और रीति-रिवाजों, उसकी कष्ट-कथाओं और अतृप्त अभिलाषाओं, दूसरे जमींदार, महाजन और हाकिम आदि विविध वर्गों से उसके अनेक-रूप-सम्बन्धों की समष्टिगत व्यापक अभिव्यक्ति हुई है। होरी एक होते हुए भी अनेक का चित्र है।

देहात और किसान का जीवन और मरण का सम्बन्ध है। देहात की कहानी किसान की कहानी और किसान की कहानी देहात की कहानी है। इसलिए 'गोदान' की आधिकारिक कथा-वस्तु का वातावरण नागरिक नहीं देहाती (rural atmosphere) है। इस प्रकार 'गोदान' की कथावस्तु भारत की अस्सी प्रतिशत जनता के जीवन का प्रतिनिधित्व करती है। इससे पूर्व हिन्दी में क्या, अन्य भारतीय भाषाओं में भी देहाती वातावरण और किसान के जीवन से इस भाँति की प्रतिनिधि-परक कथा-वस्तु का चुनाव किसी उपन्यास में नहीं किया गया।

आधिकारिक कथा का प्रारम्भ होरी की गाय के पालने की चिर-लालसा की देहाती भावभूमि से होता है और अन्त भी गोदान की ग्रामीण परम्परागत संस्कारी भावना से होता है, जो कृषक-संस्कृति की लोकपरम्परा के वातावरण का प्रतीक है। होरी और उसकी पत्नी धनिया के वार्तालाप से कथा का उद्घाटन होता है और होरी की मौत और धनिया की नीरव व्यथा में कथा की समाप्ति। लगता है कि जैसे सारा कथा-प्रवाह होरी और धनिया के जीवन की सतत गूँज है, जो अन्त में एक करुण प्रतिध्वनि करके शान्त हो जाती है, या होरी जैसे ग्राम-देवता का शरीर है और धनिया उसकी आत्मा, जो ग्रामीण-संस्कृति की परम्परा के प्रवाह में थपेड़े खाते हुए उसी के बीच अपनी जीवन नौका को अपने बाहुबल और आस्था के आत्मबल के सहारे खींचते जा रहे हों। इस प्रकार 'गोदान' भारतीय ग्राम-देवता की करुण आत्म-पुकार है, उसके शरीर और मन का यथार्थ चित्रण।

होरी—एक किसान का यथार्थ चरित्र है। उसमें उसके अपने सारे अन्तर्विरोधों और गुण-दोषों की सजीव कहानी है। वह मन से बड़ा उदार है किन्तु 'महाजनी सभ्यता' की मार से उसकी दरिद्रता उसे संकीर्ण और नीच बनने पर भी मजबूर कर देती है, बहुत-सी दुर्बलताएँ उसे विरासत में भी मिली हैं। गरीबी के कारण वह अपने भाइयों से ५) की बेईमानी तक करने को तैयार हो जाता है किन्तु जब उसका भाई हीरा उसकी गाय को द्वेष और ईर्ष्या के कारण विष देकर मार डालता है, तब होरी जानकर भी अपने भाई के इस पाप को छिपाना चाहता है। किन्तु वह धनिया से कुछ नहीं छिपा पाता है और धनिया यह बात जब कहती है तो उसे पीटता है। हीरा गाँव से भाग जाता है तब होरी उसकी खेती का सारा काम खुद करता है, अपना पीछे पहले उसके काम को

करता है। दरोगा आकर जब हीरा के पीछे उसके घर की तलाशी लेना चाहता है तो होरी कर्ज लेकर भी दरोगा को रिश्वत देकर अपने भाई के घर की प्रतिष्ठा बचाना चाहता है। उसकी दुर्बलता के प्रति हमें सहानुभूति पैदा होती है और उसके कर्मरत संकटग्रस्त जीवन-व्यथा के प्रति करुणा। वह अपने शरीर पर सब-कुछ झेलता है किन्तु अपनी आस्था से अडिग नहीं होता, वह अपनी जमीन और अपने घर की प्रतिष्ठा के लिए अपने को होम देता है। लेकिन जब हम देखते हैं कि महाजन और जमींदार के अत्याचारों के विरुद्ध वह विद्रोह नहीं करता तो हमें कहीं-कहीं उस पर क्रोध भी आता है। कर्ज से मुक्ति पाने के लिए, अपनी पारिवारिक प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए सतत परिश्रम उसका जीवन-क्रम बन जाता है। वह चुपचाप सारे अन्यायों और कष्टों को सहता रहता है किन्तु अपने इस क्रम से नहीं हटता। अन्त में वह मजदूरी करता है, किन्तु झुकता नहीं। इस सतत विश्राम-हीन परिश्रम के यज्ञ में वह अपने जीवन की आहुति चढ़ा देता है। लू लगने से वह मर जाता है। लू लगने से पहले जब एक मजदूर उसे देख कर पूछता है—"तुम भी तो बहुत दुबले हो गए, दादा।" तो होरी हंसकर कहता है—

"तो क्या यह मोटे होने के दिन हैं? मोटे वह होते हैं, जिन्हें न रिन की सोच होती है, न इज्जत की। इस जमाने में मोटा होना बेहयाई है। सौ को दुबला करके तब एक मोटा होता है। ऐसे मोटेपन में क्या सुख। सुख तो जब है कि सभी मोटे हों।"

जैसे ये शब्द होरी के जीवन-अनुभव का निचोड़ हों, उसके मन के किसी कोने में नाचने वाले धुँधले स्वप्न की एक झाँकी हो, मानो यह सारे उपन्यास में प्रकट यथार्थ के 'है' में से ध्वनित होने वाले अन्तर्निहित 'होना चाहिए' की युग-माँग की पुकार हो।

प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासों में तो वर्ग और व्यक्ति का एक साथ चित्र उपस्थित करने वाला इतना उदार स्वाभाविक मानव-चरित्र तो मिलता ही नहीं, किन्तु परवर्ती उपन्यासों में भी, जो शिल्प की दृष्टि से कई बातों में 'गोदान' से आगे हैं ऐसा पौरुष-चरित्र पाना कठिन ही है। परवर्ती उपन्यासों में व्यक्ति-वैचित्र्य और व्यक्ति-कौतुक तो बहुत हैं किन्तु उनमें जन-जीवन के इतना सहज प्रतीक चरित्र नहीं मिलते। होना तो चाहिए था कि प्रेमचन्द की चरित्र-चित्रण की इस यथार्थवादी परम्परा का विकास परवर्ती उपन्यासों में होता किन्तु शिल्प-प्रयोग की रीतिवादी मनोवृत्ति में परवर्ती उपन्यासों में पुंसत्वहीन, सनकी और मरीज नायकों की सृष्टि ही अधिक की है। कई आलोचकों को होरी के चरित्र में प्रेमचन्द के व्यक्तित्व की छाया भी दिखाई देती है।

धनिया का चरित्र एक दृढ़, साहसी और कर्मठ ग्राम-नारी का चरित्र है। परिवार की गाड़ी को वह अपनी व्यवहार-कुशलता से आर्थिक शोषण और सामाजिक रूढ़ियों के दलदल में भी खींचती चली जाती है। जो बात उसके सहृदय हृदय को उचित प्रतीत हो फिर वह उसके लिए बड़ी से बड़ी सामाजिक शृङ्खला की परवाह नहीं करती। वह अपने पुत्र गोबर के किये हुए असामाजिक प्रेम को अपने साहस के द्वारा पाप बनने से बचा लेती है। गोबर विधवा झुनिया के यौवनासक्ति में उसे गर्भवती बना देता है और जब उसे इस कार्य के दायित्व के बोझ का पता चलता है तब वह झुनिया को अपने घर पर छिपाकर छोड़ जाता है और खुद शहर भाग जाता है। धनिया तब समाज के भय से झुनिया को अपने घर से भगाती नहीं, बल्कि उसे स्वीकार करके अपने पुत्र की कायरता को धिक्कारती है। इसी प्रकार ग्राम-विप्र की रखैल चमारिन सिलिया को भी परित्यक्ता होने पर वह अपने घर में स्थान देती है। जब दरोगा उसकी अपनी गाय को

मारने का अभियोग उसी पर लगाता है और धमकी देता है तो वह सब आदमियों के सामने निर्भीकता से कहती है—

"हाँ, दे दिया अपनी गाय थी, मार डाली, फिर ? किसी दूसरे का जानवर तो नहीं मारा ? तुम्हारी जाँच में यही निकलता है तो यह लिखो, पहना दो हाथों में हथकड़ी।"

इसी प्रकार झुनिया का मामला लेकर गाँव के पंच जब होरी को दण्ड देते हैं तो वह कहती है—

"मुझसे इतना बड़ा जरीवाना इसलिए लिया जा रहा है कि मैंने अपनी बहू को क्यों अपने घर में रखा ? क्यों उसको निकाल कर सड़क की भिखारिन नहीं बना दिया ? यही न्याय है, एँ ?—"

वह पंच परमेश्वर की भी परवाह नहीं करती; उनके अमानवीय न्याय को धिक्कारती है। धनिया जैसे नारी-चरित्र भी दूसरे हिन्दी उपन्यासों में मुश्किल से ही मिलेंगे।

गोबर इन दोनों का बेटा है। वह नई पीढ़ी के असन्तोष का प्रतीक है। वह जमींदार और महाजन जैसी गाँव की जोंकों को मिटाने की बात सोचता है। उसका यह असन्तोष और आन्तरिक विद्रोह गाँव से शहर की ओर खींच ले जाता है। वहाँ वह मजदूरी करके, खोंचा लगाकर जो रुपया पैदा करता है, वह सूद पर उठाने लगता है। कुछ रुपया पैदा करके वह पहली बार जब गाँव लौटता है तो भी उसमें गाँव के महाजनों और जमींदार के विरुद्ध एक बगावत की भावना काम करती है। वह होली के अवसर पर नौजवानों की टोली बनाकर स्वाँग करता है और उसमें गाँव के महाजनों की मजाक उड़ाई जाती है। किन्तु होरी के सन्तोषी स्वभाव से चिढ़कर वह फिर शहर चला जाता है। गाँव से विद्रोह की भावना लेकर शहर में आने पर उसके जिस चारित्रिक विकास की प्रारम्भ में अपेक्षा की जाती है वह पूरी नहीं होती। प्रेमचन्द गोर्की के 'मदर' उपन्यास के मजदूर बेटे की तरह 'गोदान' में गोबर के चरित्र का क्रान्तिकारी विकास कर सकते थे। किन्तु गोबर की सामाजिक चेतना महाजनी सभ्यता का शिकार बन जाती है और उसका क्रान्तिकारी विकास रुक जाता है। संभवतः प्रेमचन्द ने महाजनी सभ्यता की विकृति का चित्रण करने में ही गोबर के चरित्र की यथार्थता समझी हो, क्योंकि 'गोदान' किसान के आर्थिक शोषण का यथार्थ चित्र है, जो मिटती हुई जमींदारी सभ्यता के स्थान पर अपने पैर जमाने वाली महाजनी सभ्यता के छोटे-बड़े प्रतीकों द्वारा खींचा गया है। 'गोदान' में ह्रासोन्मुखी जमींदारी सभ्यता के प्रतीक हैं रायसाहब, जो स्वयं बड़े महाजनों के कर्जदार हैं। किसान यदि गाँव के छोटे महाजनों का शिकार है, तो जमींदार बैंकों और बड़े महाजनों का, इसलिए पूँजीवादी व्यवस्था का विरोध शब्दों में, वह भी साधारण आदमी की तरह करता है। रायसाहब, मेहता से कहते हैं—"किसी को भी दूसरों के श्रम पर मोटे होने का अधिकार नहीं है। उपजीवी होना घोर लज्जा की बात है। समाज की ऐसी व्यवस्था, जिसमें कुछ लोग मौज करें और अधिक लोग पिसें और खपें, कभी सुखद नहीं हो सकती।···हमें अपने ऊपर विश्वास नहीं रहा, न पुरुषार्थ ही रह गया।"

इस कथन से स्पष्ट है कि जब जमींदार कर्ज के बोझ से दबता है तो वह भी पूँजीवाद को कोसता है और दूसरी ओर गाँवों में किसानों का स्वयं उपजीवी बनकर रहता है। वह किसान के सामने अपने को उसके समान ही दुखी और परेशान बताता है ताकि किसान अपने प्रति किये

इस अत्याचार को जमींदार की मजबूरी समझकर उसके प्रति सहानुभूति रखे। राय साहब होरी से कहते हैं—"दुनिया समझती है, हम बड़े सुखी हैं। हमारे पास इलाके, महल, सवारियाँ, नौकर-चाकर, कर्ज, वेश्याएँ क्या नहीं हैं; लेकिन जिसकी आत्मा में बल नहीं, अभिमान नहीं, वह और चाहे कुछ हो आदमी नहीं है।...जो भोग-विलास के नशे में, अपने को भूल गया हो, जो हुक्काम के तलवे चाटता हो और अपने अधीनों का खून चूसता हो, उसे मैं सुखी नहीं कहता।...लक्षण कह रहे हैं कि बहुत जल्द हमारे वर्ग की हस्ती मिट जाने वाली है।"

एक ओर तो यह वर्ग अपने मरणोन्मुख जीवन को देखकर दुखी होता है और दूसरी ओर इस स्थिति में भी वह अपने शोषणकारी चक्र की गति को नहीं रोकना चाहता है। राय साहब होरी के सामने यह कह ही रहे थे कि उन्हें पता चलता है कि बेगारों ने काम करने से इन्कार कर दिया है। यह सुनते ही 'राय साहब के माथे पर बल पड़ गए। आँखें निकाल कर बोले—'चलो मैं इन दुष्टों को ठीक करता हूँ।' कथन और कृत्य में कितना अन्तर है; मिटता हुआ वर्ग भी अपनी अस्तित्व रक्षा के लिए क्या नहीं करता? प्रेमचन्द ने इस प्रकार मिटनेवाले जमींदार वर्ग का कितना यथार्थ चित्रण किया है!

प्रेमचन्द ने जमींदारों के अत्याचारों का चित्रण अपने पिछले उपन्यासों और कहानियों में काफी किया है 'प्रेमाश्रम' में इसी वर्ग के शोषणकारी चक्र की तस्वीर खींची गई है किन्तु 'गोदान' में गाँव से लेकर शहर तक फैले हुए छोटे-बड़े पूँजीपतियों और उनके एजेण्टों का यथार्थ चित्रण है। भारतीय जीवन में पूँजीवाद के प्रवेश को उन्होंने महाजनी सभ्यता की संज्ञा दी थी। प्रेमचन्द की धारणा थी "इस सभ्यता ने समाज को दो अंगों में बाँट दिया है, जिनमें एक हड़पने वाला है, दूसरा हड़पा जाने वाला। इस महाजनी सभ्यता का अन्त हुआ है केवल रूस देश में और जो समाज-व्यवस्था उस देश के लिए हितकर हुई है, वह हिन्दुस्तान के लिए भी हो सकती है।" फिर भी प्रेमचन्द ने इस व्यवस्था का नारेबाजी के साथ कभी प्रचार नहीं किया, यद्यपि वह साहित्य को 'प्रोपेगण्डा' मानने से हिचकते नहीं थे। वर्ग-भेद, मिटते बनते नये-पुराने वर्गों के रूप, शोषण के अनेक धार्मिक, जातीय और सामाजिक प्रकार—सब बातें उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति बनकर साहित्य में अभिव्यक्त हुई थीं, वह जनता के लिए जनता से सीखकर जनता के साहित्य की सृष्टि करते थे।

गाँवों में फैले हुए 'महाजनी सभ्यता' के विभिन्न रूपों के चित्र भी जन-जीवन की व्यापक अनुभूति के फल हैं। होरी कहता है—"जमींदार तो एक ही है; मगर महाजन तीन-तीन हैं, सहुआइन अलग, मंगरू अलग और दातादीन पण्डित अलग।" झींगुरीसिंह शहर के बड़े महाजन का गाँव में छोटा एजेण्ट है। होरी इन महाजनों के कर्ज से जीवन-भर नहीं उबर पाता है। मूलधन का सूद-ब्याज द्रौपदी के चीर की तरह बढ़ता जाता है और इस चक्की में पिसते-पिसते आखिर उसका अन्त हो जाता है। धनिया सुतली बेचकर जो बीस आने पैसे लाई थे वे भी होरी के मरते समय उसने गोदान में दे दिए। दातादीन से वह कहती है—"महाराज, घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गोदान है।" यहीं उपन्यास भी करुण वातावरण में समाप्त हो जाता है। गोदान के बीस आने भी महाजन ब्राह्मण को ही मिलते हैं। जीवन-भर जो महाजन खून चूसता रहा, वही अन्त समय में भी पुरोहित बनकर दक्षिणा वसूल करता है। किसान के जीवन-रक्त को चूसने वाली इन सामाजिक जोंकों का अभिशाप मानों

किसान की अन्तर्व्यथा की करुण-चीत्कार बनकर इस उपन्यास में फूट पड़ा है।

'गोदान' की आधिकारिक कहानी के साथ-साथ एक प्रासंगिक कहानी भी चलती है। वह है देहात के साथ शहर की कहानी। मालती और मेहता की कहानी। यह प्रासंगिक-कथा मुख्य-कथा से अलग दिखाई पड़ती है, और लगता है कि यदि होरी के ग्राम-जीवन की कथा-वस्तु तक ही सीमित होता तो यह उपन्यास शिल्प की दृष्टि से अपने में पूर्ण हो सकता था। किन्तु प्रेमचन्द के 'गोदान' के पहले के उपन्यासों में भी कथा-वस्तु का क्रम इसी प्रकार है। 'प्रेमाश्रम' और 'रंग-भूमि' में दो कथाएँ एक साथ चलती हैं। केवल शिल्पद्रष्टा आलोचक भले ही इस कथा का सुगठन न मानें किन्तु इस प्रकार की कथाएँ एक-दूसरे की पूरक हैं और दोनों ही मिलकर उपन्यास के व्यापक चित्र को पूर्ण बनाती हैं। वर्गभेद और वर्ग-विरोध एवं शोषण के रूप ही दो कथाओं का रूप धारण कर लेते हैं। एक ओर किसान है, दूसरी ओर जमींदार, दोनों वर्गों के दो क्षेत्र हैं और दोनों के सम्बन्ध भी। जब तक चित्र के दोनों पहलू सामने न रखे जायँ जीवन की व्यापक अभिव्यक्ति उसकी वास्तविकता और यथार्थ समस्याओं को उभारकर सामने नहीं रख सकती। 'गोदान' में भी प्रेमचन्द ने इसी वर्ग-विरोध के विविध सम्बन्धों को स्पष्ट करने के लिए दो कथाओं को एक में गूँथने का प्रयत्न किया है। गूँथने में या कथा-सन्धि में भले ही विशेष शिल्प-चातुर्य न हो किन्तु दोनों कथाओं के पात्र एक-दूसरे की पृष्ठभूमि में कन्ट्रास्ट के साथ उभरकर सामने आते हैं।

प्रेमचन्द चमत्कारवादी नहीं थे कि उपन्यास के शिल्प-कौशल के चक्कर में जीवन-वस्तु की यथार्थता की विराट् अनुभूति को ही कुण्ठित करके नये-नये प्रयोग करते। उनका शिल्पवस्तु को वहन करने वाला साधन था, साध्य नहीं। इसलिए उनकी रचनाओं में कलात्मक चमत्कार खोजनेवालों को निराशा होगी। प्रेमचन्द ने एक पत्र में लिखा भी था—

"कथा को बीच में शुरू करना, या इस प्रकार शुरू करना कि जिसमें ड्रामा का चमत्कार पैदा हो जाय, मेरे लिए मुश्किल है।"

वह जीवन के इतने समीप थे कि अपनी कला और जीवन में उन्होंने तादात्म्य स्थापित कर लिया था। इसीलिए उनका कहानी कहने का ढंग बड़ा स्वाभाविक था। उनका शिल्प सरल और सुबोध शिल्प है। 'गोदान' में ही चरित्र शब्दचित्रों, वार्तालापों द्वारा स्वाभाविक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में उभरते हैं। वार्तालाप में वह ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं जिनमें लगता है कि यह जीवन की वाणी है। 'गोदान' का गद्य प्रेमचन्द की हिन्दी को अभूतपूर्व और ऐतिहासिक देन है। देहात के वातावरण का चित्रण करने में उनके शब्द ही सजीव हो उठते हैं। 'गोदान' में अवध के गाँव और ताल्लुकेदार और किसानों का चित्रण है इसलिए भाषा में मुहावरों के सहज-प्रयोग और खानगी के अतिरिक्त अवधी का पुट वातावरण को सजीव बना देता है। जन-जीवन से सम्पर्क रखने वाली ऐसी साहित्यिक भाषा का प्रयोग हिन्दी के दूसरे उपन्यासकारों ने नहीं किया, उनकी भाषाओं में गद्य-कौशल और कृत्रिमता है। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने प्रेमचन्द के गद्य के विषय में लिखा है—

"शैलीकार की दृष्टि से प्रेमचन्दजी का स्थान हिन्दी-साहित्य में असाधारण है। सरल, सुबोध, मुहावरेदार, सजीव गद्य-शैली का अभ्यास उर्दू लेखक के रूप में वह पहले ही कर चुके थे। अपने इस अभ्यास को वह अपने साथ ही हिन्दी के क्षेत्र में लेते आए। हिन्दी-शैली

की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि वह प्रायः नुकीली और खुरदरी है। अभी वह काफी मज नहीं पाई है। मुहावरों से तो लोगों को जैसे चिढ़-सी है। बोलचाल की भाषा को भी यथासम्भव बचाने का उद्योग किया जाता है।"......इन बाधाओं के रहने पर भी प्रेमचन्दजी ने अपना रास्ता निकाला और दूसरों को उसपर चलने के लिए आमन्त्रित किया।"

विद्वान् मौलाना शिबली की राय में भी प्रेमचन्द के मुकाबले का सुन्दर और संवरा हुआ गद्य लिखने वाला सात करोड़ मुसलमानों में भी दूसरा नहीं था। 'गोदान' की भाषा उनकी रचनाओं में सबसे अलग विशेषता रखती है और वह यह कि उपन्यास में जिस सामाजिक जीवन के महासागर को तरंगायित दिखाया गया है, गर्जन और स्वर भी उसी जीवन का है, उधार लिया हुआ नहीं।

'गोदान' प्रेमचन्द की एक कृति होते हुए भी बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के हिन्दी-साहित्य के विकास का अग्रदूत है।

'गोदान' हिन्दी पाठक को तिलस्म के मायाजाल से निकालकर सामाजिक रस के स्तर तक खींचकर लाने की प्रेमचन्द की कला-साधना का ऐतिहासिक प्रतीक है।

'गोदान' साहित्य को मनोरंजकता के रङ्गमहल से निकालकर जनता के जीवन के बीच में प्रतिष्ठित करने की कहानी है।

'गोदान' भारतीय संस्कृति और लोक-परम्परा को साथ लेकर चलने वाले भारतीय कृषक वर्ग के संघर्षरत जीवन की तपस्या का यथार्थचित्र है और है संस्कृति-विरोधी शोषक वर्गों की महाजनी सभ्यता के काले कारनामों का इतिहास।

हमारे जीवन-संघर्ष की अपूर्णता ही 'गोदान' की अपूर्णता है और हमारे वर्ग-जीवन की पूर्णता ही 'गोदान' की पूर्णता है।

'गोदान' में अपने युग का प्रतिबिम्ब भी है और आने वाले युग की प्रसव-व्यथा भी।

'गोदान' उपन्यास की शैली में भारतीय जीवन का महाकाव्य है।

की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि वह प्रायः नुकीली और खुरदरी है। अभी वह काफी मज नहीं पाई है। मुहावरों से तो लोगों को जैसे चिढ़-सी है। बोलचाल की भाषा को भी यथासम्भव बचाने का उद्योग किया जाता है।......इन बाधाओं के रहने पर भी प्रेमचन्दजी ने अपना रास्ता निकाला और दूसरों को उसपर चलने के लिए आमन्त्रित किया।"

विद्वान् मौलाना शिब्ली की राय में भी प्रेमचन्द के मुकाबले का सुन्दर और संवरा हुआ गद्य लिखने वाला सात करोड़ मुसलमानों में भी दूसरा नहीं था। 'गोदान' की भाषा उनकी रचनाओं में सबसे अलग विशेषता रखती है और वह यह कि उपन्यास में जिस सामाजिक जीवन के महासागर को तरंगायित दिखाया गया है, गर्जन और स्वर भी उसी जीवन का है, उधार लिया हुआ नहीं।

'गोदान' प्रेमचन्द की एक कृति होते हुए भी बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के हिन्दी-साहित्य के विकास का अग्रदूत है।

'गोदान' हिन्दी पाठक को तिलस्म के मायाजाल से निकालकर सामाजिक रस के स्तर तक खींचकर लाने की प्रेमचन्द की कला-साधना का ऐतिहासिक प्रतीक है।

'गोदान' साहित्य को मनोरंजकता के रङ्गमहल से निकालकर जनता के जीवन के बीच में प्रतिष्ठित करने की कहानी है।

'गोदान' भारतीय संस्कृति और लोक-परम्परा को साथ लेकर चलने वाले भारतीय कृषक वर्ग के संघर्षरत जीवन की तपस्या का यथार्थचित्र है और है संस्कृति-विरोधी शोषक वर्गों की महाजनी सभ्यता के काले कारनामों का इतिहास।

हमारे जीवन-संघर्ष की अपूर्णता ही 'गोदान' की अपूर्णता है और हमारे वर्ग-जीवन की पूर्णता ही 'गोदान' की पूर्णता है।

'गोदान' में अपने युग का प्रतिबिम्ब भी है और आने वाले युग की प्रसव-व्यथा भी।

'गोदान' उपन्यास की शैली में भारतीय जीवन का महाकाव्य है।